उर्वशी

रामधारी सिंह दिनकर

उदयाचल, आर्यकुमार रोड, पटना-४

प्रकाशक : उदयाचल
आर्यकुमार रोड, पटना–४

प्रथम संस्करण, १९६१ ई०

मूल्य १२) रु०

आवरण—श्री ज्योतीश भट्टाचार्य
कवि का रेखाचित्र—श्री इन्द्र दुग्गड़
अन्त सज्जा

१. श्री उपेन्द्र महारथी
   [चार मौलिक चित्र]
२ श्री ज्योतीश भट्टाचार्य
   [प्राचीन प्रस्तर-मूर्त्तियो की प्रतिकृतियाँ और एक मौलिक चित्र]

मुद्रक ज्ञानेन्द्र शर्मा
जनवाणी प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स प्रा० लि०
३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता–७

समर्पण

अप्सरा-लोक के कवि

श्री सुमित्रानन्दन पन्त के योग्य

कामः तदग्रे समवर्त्तताधि ....

(ऋग्वेद)

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।

(मनुस्मृति)

कामः सर्वमय पुंसां स्व-संकल्प-समुद्भवः
कामात् सर्वे प्रवर्तन्ते, लीयन्ते वृद्धिमागताः।

(शिवपुराण)

धर्मादर्थः अथतः कामः, कामाद् धर्मफलोदयः।

(पद्मपुराण)

यथा पुष्प-फलं काष्ठात् कामः धर्मार्थयोः वरः।

(महाभारत)

भूमिका

पुरूरवा और उर्वशी की कथा कई रूपो मे मिलती है और उसकी व्याख्या भी कई प्रकार से की गयी है।

राजा पुरूरवा सोम-वश के आदि पुरुष हुए हैं। उनकी राजधानी प्रयाग के पास, प्रतिष्ठान-पुर में थी। पुराणो में कहा गया है कि जब मनु और श्रद्धा को सतान की इच्छा हुई, उन्होने वसिष्ठ ऋषि से यज्ञ करवाया। श्रद्धा की मनोकामना थी कि वे कन्या की माता बनें, मनु चाहते थे कि उन्हे पुत्र प्राप्त हो। किन्तु, इस यज्ञ से कन्या ही उत्पन्न हुई। पीछे, मनु की निराशा से द्रवित होकर वसिष्ठ ने उसे पुत्र बना दिया। मनु के इस पुत्र का नाम सुद्युम्न पडा।

युवा होने पर सुद्युम्न, एक बार, आखेट करते हुए किसी अभिशप्त वन मे जा निकले और शापवश, वे युवा नर से युवती नारी बन गये और उनका नाम इला हो गया। इसी इला का प्रेम चन्द्रमा के नव युवक पुत्र बुध से हुआ, जिसके फलस्वरूप, पुरूरवा की उत्पत्ति हुई। इसी कारण, पुरूरवा को ऐल भी कहते हैं और उनसे चलनेवाले वश का नाम चन्द्रवश है।

उर्वशी की उत्पत्ति के विषय मे भी दो अनुमान हैं। एक तो यह कि जब अमृत-मथन के समय समुद्र से अप्सराओ का जन्म हुआ, तब उर्वशी भी उन्ही के साथ जनमी थी। दूसरा यह कि नारायण ऋषि की तपस्या मे विघ्न डालने के निमित्त जब इन्द्र ने उनके पास अनेक अप्सराएँ भेजी, तब ऋषि ने अपने ऊरु को ठोक कर उसमे से एक ऐसी नारी उत्पन्न कर दी जो उन सभी अप्सराओ से अधिक रूपमती थी। यही नारी उर्वशी हुई और उर्वशी नाम उसका इसलिए पडा कि वह ऊरु से जनमी थी।

भगीरथ की जाँघ पर बैठने के कारण गगा का भी एक नाम उर्वशी है। देवी भागवत के अनुसार, बदरी धाम में जो देवी-पीठ है, उसे उर्वशी-तीर्थ कहते हैं। नर-नारायण की तपस्या-भूमि बदरी धाम में ही थी। सभव है, उर्वशी-तीर्थ उसीका स्मारक हो।

इस कथा का प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। किन्तु, उस सूक्त से इतना ही विदित होता है कि उर्वशी पुरूरवा को छोडकर चली गयी थी और विरहोन्मत्त पुरूरवा उसके सन्धान मे थे। एक दिन उर्वशी जब उन्हें मिली, उसने यह तो बताया कि वह गर्भवती है, किन्तु, लौट कर फिर उनके साथ रहना उसने अस्वीकार कर दिया। पीछे चल कर, शतपथ ब्राह्मण मे और, उसके आधार पर, पुराणो में इस कथा का जो पल्लवन हुआ, उसमे कहा गया है कि उर्वशी के गर्भ से पुरुरवा के छह पुत्र हुए थे, जिनमें सबसे बड़े का नाम आयु था।

कहते है, निरुक्त के अनुसार, आयु का अर्थ भी मनुष्य होता है (डा० फतह सिंह)। इस दृष्टि से, मनु और इडा तथा पुरूरवा और उर्वशी, ये दोनो ही कथाएँ एक ही विषय को व्यजित करती हैं। सृष्टि-विकास की जिस प्रक्रिया के कर्त्तव्य-पक्ष का प्रतीक मनु और इडा का आख्यान है, उसी प्रक्रिया का भावना-पक्ष पुरूरवा और उर्वशी की कथा मे कहा गया है।

सर विलियम विलसन ने अनुमान लगाया था कि पुरुरवा-उर्वशी की कथा अन्योक्तिपरक है। इस कथा का वास्तविक नायक सूर्य और नायिका ऊषा है। इन दोनो का मिलन कुछ ही काल के लिए होता है , बाद मे, वे प्रति दिन बिछुड जाते हैं।

किन्तु, इस कथा को लेने मे वैदिक आख्यान की पुनरावृत्ति अथवा वैदिक प्रसग का प्रत्यावर्त्तन मेरा ध्येय नही रहा। मेरी दृष्टि मे पुरूरवा सनातन नर का प्रतीक है और उर्वशी सनातन नारी का।

उर्वशी शब्द का कोषगत अर्थ होगा उत्कट अभिलाषा, अपरिमित वासना, इच्छा अथवा कामना। और पुरूरवा शब्द का अर्थ है वह व्यक्ति जो नाना प्रकार का रव करे, नाना ध्वनियो से आक्रान्त हो।

उर्वशी चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत्र की कामनाओ का प्रतीक है ; पुरुरवा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से मिलनेवाले सुखो से उद्वेलित मनुष्य।

पुरूरवा द्वन्द्व मे है, क्योकि द्वन्द्व में रहना मनुष्य का स्वभाव है। मनुष्य सुख की कामना भी करता है और उससे आगे निकलने का प्रयास भी।

नारी नर को छूकर तृप्त नही होती, न नर नारी के आलिगन मे सतोष मानता है। कोई शक्ति है जो नारी को नर तथा नर को नारी से अलग रहने नही देती, और जब वे मिल जाते हैं, तब भी, उनके भीतर किसी ऐसी तृषा का सचार करती है, जिसकी तृप्ति शरीर के धरातल पर अनुपलब्ध है।

नारी के भीतर एक और नारी है, जो अगोचर और इन्द्रियातीत है। इस नारी का सधान पुरुष तब पाता है, जब शरीर की धारा, उछालते-उछालते,उसे मन के समुद्र मे फेक देती है, जब दैहिक चेतना से परे, वह प्रेम की दुर्गम समाधि मे पहुँच कर निस्पन्द हो जाता है।

और पुरुष के भीतर भी एक और पुरुष है, जो शरीर के धरातल पर नही रहता, जिससे मिलने की आकुलता मे नारी अग-सज्ञा के पार पहुँचना चाहती है।

परिरभ-पाश मे बँधे हुए प्रेमी, परस्पर एक दूसरे का अतिक्रमण करके, किसी ऐसे लोक मे पहुँचना चाहते हैं, जो किरणोज्ज्वल और वायवीय है।

इन्द्रियो के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श, यही प्रेम की आध्यात्मिक महिमा है।

देश और काल की सीमा से बाहर निकलने का एक मार्ग योग है, किन्तु, उसकी दूसरी राह नर-नारी-प्रेम के भीतर से भी निकलती है, मनुष्य का यह अनुमान अत्यन्त प्राचीन है। तत्र-साधना के मूल में ऐसा कोई न कोई विश्वास रहा होगा , सहजमार्गियो के मन में ऐसी कोई न

कोई भावना काम करती होगी ; अभिनव मनोविज्ञान के भीतर भी ऐसी कोई न कोई प्रेरणा क्रियाशील है।

काम-सुख की इन्ही निराकार झकृतियो का आख्यान मनोविज्ञान उदात्तीकरण की भाषा मे करता है। प्रेम की एक उदात्तीकृत स्थिति वह भी है जो समाधि से मिलती-जुलती है। जिसके व्यक्तित्व का देवोपम विकास हुआ है, जिसके स्नायविक तार चेतन और सजीव है तथा जिसका मन, स्वभाव से ही, ऊर्ध्वगामी और उड्डयनशील है, उसे काम के स्पर्श मात्र से इस समाधि का बोध होता है।

तत्पाणिस्पर्शसौख्यं परमनुभवति सच्चिदानन्दरूपम्
तत्रासीत् वार्णभिन्ना रमणरतिपतेः योगनिद्रां गतेव।

मनुष्य के इस द्वन्द्व का, साकार से ऊपर उठकर निराकार तक जाने की इस आकुलता अथवा ऐन्द्रियता से निकलकर अतीन्द्रिय जगत् मे आँख खोलने की इस उमग का प्रतीक पुरूरवा है।

किन्तु, उर्वशी द्वन्द्वो से सर्वथा मुक्त है। देवियो मे द्वन्द्व नही होता, वे त्रिकाल अनुद्विग्न, निर्मल और निष्पाप होती है। द्वन्द्वो की कुछ थोडी अनुभूति उसे तब होती है, जब वह माता अथवा पूर्ण मानवी बन जाती है, जब मिट्टी का रस उसे पूर्ण रूप से अभिसिक्त कर देता है।

भावना और तर्क, हृदय और मस्तिष्क, कला और विज्ञान अथवा निरुद्देश्य आनन्द और सोद्देश्य साधना, मानवीय गुणो के ये जोडे नवीन मनुष्य को भी दिखायी देते है और वे प्राचीन मानव को भी दिखायी पड़े थे। मनु और इडा का आख्यान तर्क, मस्तिष्क, विज्ञान और जीवन की सोद्देश्य साधना का आख्यान है, वह पुरुषार्थ के अर्थ-पक्ष को महत्त्व देता है। किन्तु, पुरूरवा-उर्वशी का आख्यान भावना, हृदय, कला और निरुद्देश्य आनन्द की महिमा का आख्यान है ; वह पुरुषार्थ के काम-पक्ष का माहात्म्य बताता है।

जैसे पुरुषार्थ के तीन अग कहे गये है, वैसे ही, मनुष्य के आन्तरिक व्यक्तित्व के धरातल भी तीन है। मनुष्य के सारे व्यक्तित्व, समग्र जीवन का आधार उसकी जैव भावनाओ का धरातल है। यह वह धरातल है जिस पर मनुष्य और पशुओ में भेद नही है और यही धरातल सब से प्रबल और सबसे प्राचीन भी है। मनुष्य को पशुओ से भिन्न करनेवाले, बुद्धि और आत्मा के दो धरातल, बाद को, उत्पन्न हुए। वैसे, आत्मा तो पशुओ में भी है, किन्तु, सदसद् विवेक की शक्ति, जो मानवता का प्रधान गुण है, पशुओ में नही होती।

किन्तु मनुष्य ने जिस परिमाण में बुद्धि अर्जित की, उसी परिणाम में उसने [सहज प्रवृत्ति (इस्टिक्ट) की शक्ति को खो दिया। तब भी, बुद्धि थोडी पशुओ में भी है और सहज प्रवृत्ति, कभी-कभी, मनुष्य में भी झलक मारती है। भेद यह है कि पशु का सारा जीवन सहज प्रवृत्ति से चलता है, केवल उसके किनारे-किनारे बुद्धि की हलकी झालर विद्यमान है। और मनुष्य के सारे जीवन का आधार बुद्धि है, सहज प्रवृत्ति, कभी-कभी ही, बिजली की तरह उसमें कौंध जाती है।

तब भी, मनुष्य का सर्वोत्तम काव्य, सर्वोच्च दर्शन और विज्ञान के आशातीत आविष्कार, ये सबके सब, सबुद्धि (इनटुइशन) से सकेतित होते हैं, जो बहुत कुछ सहज प्रवृत्ति के ही समान है।

अर्थ और काम, ये जैव धरातल के पुरुषार्थ हैं, किन्तु, धर्म का जन्म आत्मा के धरातल पर होता है। बुद्धि इन दोनो धरातलो की सेविका और सहायक है। किन्तु, अर्थ की सेवा वह जिस सहजता से करती है, उसी सहजता से वह धर्म और काम की सेवा नही कर सकती।

अर्थ के उपकरण भोजन, छाजन, मोटर, महल, सेना, समाज और मनुष्य के सारे भौतिक अभियान हैं, जो बुद्धि के वृत्त मे पडते हैं। किन्तु, काम के अग कला, सुरुचि, सौन्दर्यबोध और प्रेम हैं, जो, मुख्यत , सबुद्धि से सकेतित होते हैं। इसी प्रकार, बुद्धि धर्म को भी सिद्ध नही करती। धर्म बराबर सबुद्धि से प्रेरणा पाता है।

धर्म का जन्म आत्मा के धरातल पर होता है, किन्तु, सार्थकता उसकी तब है, जब वह जैव धरातल पर आकर हमारे आचरणो को प्रभावित करे।

कला, सुरुचि, सौन्दर्यबोध और प्रेम, इनका जन्म जैव धरातल पर होता है, किन्तु, सार्थकता उनकी तब सिद्ध होती है, जब वे ऊपर उठकर आत्मा के धरातल का स्पर्श करते हैं।

साहित्य के नौ मूल भावो मे से रति, क्रोध, भय और घृणा, ये मूल भाव भैंस मे भी होते हैं, किन्तु, पशुओ मे जो भाव अनगढ और कुरूप हैं, मनुष्य मे आकर वे अनेक रग-रूपो मे बदल कर निस्सीम हो गये हैं, क्योकि मनुष्य में बुद्धि और कल्पना की शक्ति है, जो पशुओ मे नही है।

पशुओ में जो प्रेरणा ऋतु-धर्म से एकाकार है, मनुष्यो मे वह ऋतु-धर्म का बन्धन नही मानती, न वह प्रजासृष्टि की सीमा पर समाप्त होती है। काम-शक्ति पशु-जगत् मे आवश्यकता और उपयोग की सीमा में है। मनुष्य में आकर वह ऐसे आनन्द का कारण बन गयी है जो निष्प्रयोजन, निस्सीम और निरुद्देश्य है। वह नित्य नये-नये पुलको की रचना करती है, नयी-नयी कल्पनाओ को जन्म देती है और मनुष्य को नित्य नवीन स्फुरणो से अनुप्राणित रखती है। यह सच है कि काम के क्षेत्र मे पशुओ को जो स्वाधीनता प्राप्त है, वह मनुष्यो को नही है। किन्तु, कामजन्य स्फुरणो, प्रेरणाओ और सुखो का जो अनन्त-व्यापी प्रसार मनुष्य मे है, वह कल्पनाहीन जन्तुओ में नही हो सकता। और मनुष्यो में भी जो लोग पशुता से जितनी दूर हैं, वे काम के सूक्ष्म सुखो का स्वाद उतना ही अधिक जानते हैं।

कामजन्य प्रेरणाओ की व्याप्तियाँ सभ्यता और सस्कृति के भीतर बहुत दूर तक पहुँची हैं। यदि कोई युवक किसी युवती को प्रशसा की आँखो से देख ले, तो दूसरे ही दिन से उस युवती के हाव-भाव बदलने लगते हैं, उसे पोशाक और प्रसाधन में नवीनता की आवश्यकता अनुभूत होने लगती है, उसके बोलने, चलने और देखने मे एक नयी भगिमा उत्पन्न हो जाती है।

और, इसी प्रकार, जब कोई नारी प्रशसा-भरी दृष्टि से किसी पुरुष को देख लेती है, तब अनगढ से अनगढ पुरुष के भीतर भी कोई कल्पक जाग उठता है, कोई कविता सुगबुगाने लगती है, सौन्दर्य की कोई तृषा जग कर उसे आइने के पास ले जाती है।

काम की ये जो निराकार झंकृतियाँ हैं, वे ही उदात्तीकरण के सूक्ष्म सोपान हैं। त्वचाएँ, स्पर्श के द्वारा, सुन्दरता का जो परिचय प्राप्त करती हैं, वह अधूरा और अपूर्ण होता है। पूर्णता पर वह तब पहुँचता है, जब हम सौन्दर्य के निदिध्यासन अथवा समाधि मे होते हैं।

कला, साहित्य और, विशेषत , काव्य मे भौतिक सौन्दर्य की महिमा अखण्ड है। फिर भी, श्रेष्ठ कविता, बराबर, भौतिक से परे भौतिकोत्तर सौन्दर्य का सकेत देती है, फिजिकल को लाँघ कर 'मेटा-फिजिकल' हो जाती है।

प्रेम मे भी भूत से ऊपर उठकर भूतरोत्तर होने की शक्ति होती है, रूप के भीतर डूब कर अरूप का सन्धान करने की प्रेरणा होती है।

अपने स्थूल से स्थूल रूप मे भी, प्रेम एक मानव का दूसरे मानव के साथ एकाकार होने का सबसे सहज, सबसे स्वाभाविक मार्ग है ; किन्तु, विकसित और उदात्त हो जाने पर तो वह मनुष्य को बहुत कुछ वही शीतलता प्रदान करता है, जो धर्म का अवदान है।

धर्मादर्थो अर्थतः कामः कामाद् धर्म-फलोदयः। (पद्मपुराण)

धर्म से अर्थ और अर्थ से काम की प्राप्ति होती है, किन्तु, काम से फिर हमे धर्म के ही फल प्राप्त होते हैं।

जीवन मे सूक्ष्म आनन्द और निरुद्देश्य सुख के जितने भी सोते हैं, वे, कही न कही, काम के पर्वत से फूटते हैं। जिसका काम कुठित, उपेक्षित अथवा अवरुद्ध है, वह आनन्द के अनेक सूक्ष्म रूपो से वचित रह जाता है। हीन केवल वही नही है, जिसने धर्म और काम को छोड़ कर केवल अर्थ को पकडा है , न्यायत , उकठा काठ तो उस साधक को भी कहना चाहिए, जो धर्म-सिद्धि-के प्रयास मे अर्थ और काम, दोनो से युद्ध कर रहा है।

धर्मार्थकामं सममेव सेव्यं,
यः एकसेवी स नरो जघन्यः।

पुरूरवा और उर्वशी का प्रेम मात्र शरीर के धरातल पर नही रुकता, वह शरीर से जन्म लेकर मन और प्राण के गहन, गुह्य लोको में प्रवेश करता है, रस के भौतिक आधार से उठकर रहस्य और आत्मा के अन्तरीक्ष में विचरण करता है।

पुरूरवा के भीतर देवत्व की तृषा है। इसलिए, मर्त्य लोक के नाना सुखो में वह व्याकुल और विषण्ण है।

उर्वशी देवलोक से उतरी हुई नारी है। वह सहज, निश्चित भाव से पृथ्वी का सुख भोगना चाहती है।

पुरूरवा की वेदना समग्र मानव-जाति की चिरन्तन वेदना से ध्वनित है।

किन्तु, मानवता की यह वेदना उत्पन्न कहाँ से होती है ? मानव-मन का यह दु साध्य सघर्ष आता है कहाँ से ?

आत्मा का धरातल मनुष्य को ऊपर खीचता है और जैव धरातल का आकर्षण नीचे की ओर है। मनुष्य जब पशुओ से अलग होने लगा, यह वेदना तभी से उसके साथ हो गयी। मानवता ही मनुष्य की वेदना का उत्तम नाम है।

मनुष्य ने देवताओ की जो कल्पना कर रखी है, उसके गज से अपने आपको नापने में वह असमर्थ है।

यदि मनुष्य अपनी गरदन तानकर मस्तक से नक्षत्रो को छूने का प्रयास करे, तो उसके पाँव जमीन से उखड जाते हैं, वह वायु में निस्सहाय उडने वाला पत्ता बन जाता है।

और यदि वह पाँव जमा कर धरती पर खडा रहे, तो अपने मस्तक से वह नक्षत्र तो क्या, सामान्य वृक्षो के मौलि को भी नही छू सकता।

मनुष्य की कल्पना का देवता वह है, जो जल में उतरने पर भी जल से नही भीगता, जिसकी गरदन समुद्र की ऊँची से ऊँची लहरो से भी हाथ भर ऊँची दिखायी देती है।

किन्तु, मनुष्य का भाग्य ऐसा नही है। वह तरगो से लड़ते-लडते भी उनसे भीग जाता है और बहुधा लहरे उसे बहा कर औघट घाट में फेक देती हैं, भँवर का जाल बनकर उसे नीचे पाताल मे गाड़ देती हैं।

तब भी, सघर्ष करना मनुष्य का स्वभाव है।

वह जल के समान सूर्य की किरणो पर चढ कर आकाश पहुँचता है और बादलो के साथ पृथ्वी पर लौट आता है। और सूर्य की किरणे, एक बार फिर, उसे आकाश पर ले जाती हैं।

स्वर्ग और पृथ्वी के बीच घटित इस निरन्तर आवागमन से मनुष्य का निस्तार कभी होगा या नही, इसका विश्वसनीय ज्ञान नये मनुष्य को छोड़कर चला गया है। इसलिए मै इस विषय में मौन हूँ कि पुरूरवा जब सन्यास लेकर चले गये, तब उनका क्या हुआ।

एक ओर देवत्व की ऊँची-ऊँची कल्पनाएँ; दूसरी ओर उफनाते हुए रक्त की अप्रतिहत पुकार और पग-पग पर घेरनेवाली ठोस वास्तविकता की अभेद्य चट्टाने, जो हुक्म नही मानती, जो पिघलना नही जानती।

आदमी हवा और पत्थर के दो छोरो के बीच झटके खाता है, और झटका खाकर, कभी इस ओर, और कभी उस ओर को मुड जाता है।

कभी प्रेम! कभी सन्यास!

और सन्यास प्रेम को बर्दास्त नही कर सकता, न प्रेम सन्यास को, क्योकि प्रेम प्रकृति और परमेश्वर सन्यास है और मनुष्य को सिखलाया गया है कि एक ही व्यक्ति परमेश्वर और प्रकृति, दोनो को प्राप्त नही कर सकता।

उर्वशी पूछती है, क्या ईश्वर और प्रकृति दो हैं।

क्या ईश्वर प्रकृति का प्रतिबल है, उसका प्रतियोगी है?

क्या दोनो एक साथ नही चल सकते?

क्या प्रकृति ईश्वर का शत्रु बनकर उत्पन्न हुई है ?
अथवा क्या ईश्वर ही प्रकृति से रुष्ट है ?

प्रकृति और परमेश्वर की एकता की एक अनुभूति, सन्यास और प्रेम के बीच सतुलन की एक झाँकी महर्षि च्यवन के चरित्र मे झलक मारती है। जो नदी पुरुरवा के भीतर बेचैन होकर गरज रही है, वही च्यवन मे आकर स्वच्छ, सुस्थिर, शीतल और मौन है।

सन्यास मे समा कर प्रेम से और प्रेम मे समा कर सन्यास से बचना जितना कठिन है, सन्यास और प्रेम के बीच सतुलन बिठाना, कदाचित्, उससे भी कठिन कार्य है।

मनोविज्ञान जिस साधना का सकेत देने लगा है, वह वैराग्य नही, रागो से मैत्री का सकेत है, वह निषेध नही, स्वीकृति और समन्वय का सकेत है, वह सघर्ष नही, सहज, स्वच्छ, प्राकृतिक जीवन की साधना है।

देवता वह नही, जो सब कुछ को पीठ देकर, सबसे भाग रहा है। देवता वह है, जो सारी आसक्तियो के बीच अनासक्त है, सारी स्पृहाओ को भोगते हुए भी निस्पृह और निर्लिप्त है।

फिर वही बात ! पानी पर चलो, किन्तु, पानी का दाग नही लगे।

किन्तु, पानी पर चलकर भी पानी के दाग से बचता कौन है ?
क्या वह, जो औशीनरी और सुकन्या के साथ है ? अथवा वह भी, जो उर्वशी के प्रेम में है ?
क्या वह, जो च्यवन की पत्नी है ? अथवा वह भी, जो पुरूरवा की गोद मे है ?

प्रश्नो के उत्तर, रोगो के समाधान मनुष्यो के नेता दिया करते है।
कविता की भूमि केवल दर्द को जानती है, केवल बेचैनी को जानती है, केवल वासना की लहर और रुधिर के उत्ताप को पहचानती है।

और वेदना की भूमि चूंकि पुरूरवा के सन्यास पर समाप्त नही हुई, इसलिए, औशीनरी की व्यथा ने कविता को वहाँ समाप्त होने नही दिया।

किन्तु, नेता-की-सी एक बात एक जगह मै भी कह गया हूँ।
जब देवी सुकन्या यह सोचती है कि नर-नारी के बीच सतुलन कैसे लाया जाय, तब उनके मुंह से यह बात निकल पडती है कि यह सृष्टि, वास्तव में, पुरुष की रचना है। इसीलिए, रचयिता ने पुरुषो के साथ पक्षपात किया, उन्हें स्वत्व-हरण की प्रवृत्तियो से पूर्ण कर दिया। किन्तु, पुरुषो की रचना यदि नारियाँ करने लगें, तो पुरुष की कठोरता जाती रहेगी और वह अधिक भावप्रवण एव मृदुलता से युक्त हो जायगा।

इस पर आयु यह दावा करता है कि मै ही तो वह पुरुष हूँ जिसका निर्माण नारियो ने किया है।

आयु का कहना ठीक था। और वह प्रसिद्ध राजा भी हुआ, जिसका उल्लेख ऋग्वेद में आया है। किन्तु, उल्लेख इस बात का भी है कि युवक राजा सुश्रवा ने आयु को जीत कर उसे अपने अधीन कर लिया था।

फिर वही बात !

पुरुष की रचना पुरुष करे तो वह त्रासक होता है ; और पुरुष की रचना नारी करे तो लडाई में वह हार जाता है।

समस्या युद्ध की हो अथवा प्रेम की, कठिनाइयाँ सर्वत्र समान है।

एकान्त में कोई नही मानता कि बघनखा पहनना कोई अच्छा काम है। किन्तु, बाहर आते ही हर कोई उसे पहनना चाहता है, क्योकि और लोग बघनखे पहने हुए है।

युक्ति तो यही कहती है कि नकाब पहन कर असली चेहरे को छिपा लेने से पुण्य नही बढता होगा। फिर भी, हर आदमी नकाब लगाता है, क्योकि नकाब पहने बिना घर से निकलने की, समाज की ओर से, मनाही है।

किन्तु, उस प्रेरणा पर तो मैंने कुछ कहा ही नही जिसने आठ वर्ष तक ग्रसित रख कर यह काव्य मुझ से लिखवा लिया।

अकथनीय विषय !

शायद, अपने से अलग करके मैं उसे देख नही सकता ; शायद, वह अलिखित रह गयी ; शायद, वह इस पुस्तक में व्याप्त है।

पटना
२३ जून, १९६१ ई०

रामधारी सिंह दिनकर

विषय-सूची

चित्र-सूची

रामधारी सिंह दिनकर

20.5.69

उर्वशी

प्रथम अङ्क

साधारणोऽयमुभयोः प्रणयः स्मरस्य,
तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योग्यम् ।
— विक्रमोर्वशीयम्

देवों की रण-क्लान्ति मदिर नयनों से हरनेवाली।

[पृष्ठ ७]

[राजा पुरूरवा की राजधानी, प्रतिष्ठानपुर के समीप एकान्त पुष्प-कानन, शुक्ल पक्ष की रात, नटी और सूत्रधार चाँदनी में प्रकृति की शोभा का पान कर रहे हैं।]

सूत्रधार

नीचे पृथ्वी पर वसन्त की कुसुम-विभा छायी है,
ऊपर है चन्द्रमा द्वादशी का निर्मेघ गगन में।
खुली नीलिमा पर विकीर्ण तारे यों दीप रहे हैं,
चमक रहे हों नील चीर पर बूटे ज्यो चाँदी के;
या प्रशान्त, निस्सीम जलधि मे जैसे चरण-चरण पर
नील वारि को फोड़ ज्योति के द्वीप निकल आये हों।

नटी

इन द्वीपो के बीच चन्द्रमा मन्द-मन्द चलता है,
मन्द-मन्द चलती है नीचे वायु श्रान्त मधुवन की;
मद-विह्वल कामना प्रेम की, मानो, अलसायी-सी
कुसुम-कुसुम पर विरम मन्द मधु-गति मे घूम रही हो।

सूत्रधार

सारी देह समेट निविड आलिंगन में भरने को
गगन खोल कर बाँह विसुध वसुधा पर झुका हुआ है।

नटी

सुख की सुगभीर वेला, मादकता की धारा में
समाधिस्थ ससार अचेतन बहता-सा लगता है।

सूत्रधार

स्वच्छ कौमुदी मे प्रशान्त जगती यों दमक रही है,
सत्य रूप तज कर जैसे हो समा गयी दर्पण मे।
शान्ति, शान्ति सब ओर, मजु, मानो, चन्द्रिका-मुकुर मे
प्रकृति देख अपनी शोभा अपने को भूल गयी हो।

[ऊपर आकाश में रशनाओं और नूपुरो की ध्वनि सुनायी देती है। बहुत-सी अप्सराएँ एक साथ नीचे उतर रही है।]

नटी

शान्ति, शान्ति सब ओर, किन्तु, यह क्वणन-क्वणन-स्वन कैसा?
अतल व्योम-उर में ये कैसे नूपुर झनक रहे है?
उगी कौन-सी विभा? इन्दु की किरणें लगी लजाने;
ज्योत्स्ना पर यह कौन अपर ज्योत्स्ना छायी जाती है?
कलकल करती हुई सलिल-सी गाती, धूम मचाती
अम्बर से ये कौन कनक-प्रतिमाएँ उतर रही है?
उड़ी आ रहीं छूट कुसुम-वल्लियाँ कल्प-कानन से?
या देवों की वीणा की रागिनियाँ भटक गयी है?
उतर रही है ये नूतन पंक्तियाँ किसी कविता की
नयी अर्चियों-सी समाधि के झिलमिल अँधियाले मे?
या वसन्त के सपनों की तस्वीरें घूम रही है
तारों-भरे गगन में फूलों-भरी धरा के भ्रम से?

सूत्रधार

लो, पृथ्वी पर आ पहुँची ये सुषमाएँ अम्बर की,
उतरे हों ज्यों गुच्छ गीत गानेवाले फूलों के।
पद-निक्षेपों में बल खाती है भगिमा लहर की,
सजल कंठ से गीत, हँसी से फूल झरे जाते है।

तन पर भीगे हुए वसन है किरणो की जाली के,
पुष्परेणु-भूषित सब के आनन यो दमक रहे है,
कुसुम बन गयी हो जैसे चाँदनियाँ सिमट-सिमट कर।

नटी

फूलों की सखियाँ है ये या विधु की प्रेयसियाँ है?

सूत्रधार

नही, चन्द्रिका नही, न तो कुसुमों की सहचरियाँ है,
ये जो शशधर के प्रकाश मे फूलो पर उतरी है,
मनमोहिनी, अभुक्त प्रेम की जीवित प्रतिमाएँ है,
देवों की रण-क्लान्ति मदिर नयनो से हरनेवाली,
स्वर्ग-लोक की अप्सरियाँ, कामना काम के मन की।

नटी

पर, सुरपुर को छोड़ आज ये भू पर क्यो आयी है?

सूत्रधार

यो ही, किरणो के तारो पर चढी हुई, क्रीडा में,
इधर-उधर घूमते कभी भू पर भी आ जाती है।
या, सभव है, कुछ कारण भी हो इनके आने का।
क्योकि मर्त्य तो अमर-लोक को पूर्ण मान बैठा है,
पर, कहते है, स्वर्ग-लोक भी सम्यक् पूर्ण नही है।
पृथ्वी पर है चाह प्रेम को स्पर्श-मुक्त करने की,
गगन रूप को बाँहो मे भरने को अकुलाता है।
गगन, भूमि, दोनो अभाव से पूरित है, दोनो के
अलग-अलग है प्रश्न और है अलग-अलग पीडाएँ।
हम चाहते तोडकर बन्धन उड़ना मुक्त पवन मे,
कभी-कभी देवता देह धरने को अकुलाते है।

एक स्वाद है त्रिदिव-लोक मे, एक स्वाद वसुधा पर,
कौन श्रेष्ठ है, कौन हीन, यह कहना बड़ा कठिन है।
जो कामना खीच कर नर को सुरपुर ले जाती है,
वही खींच लाती है मिट्टी पर अम्बरवालों को।

किन्तु, सुनें भी तो, ये परियाँ वाते क्या करती हैं।

[नटी और सूत्रधार वृक्ष की छाया मे जाकर अदृश्य हो जाते है। अप्सराएँ पृथ्वी पर उतरती है तथा फूल, हरियाली और झरनो के पास घूम कर गाती और आनन्द मनाती है।]

(परियों का समवेत गान)

फूलों की नाव वहाओ री, यह रात रुपहली आयी।

फूटी सुधा-सलिल की धारा,
डूबा नभ का कूल-किनारा,
सजल चाँदनी की सुमन्द लहरों मे तैर नहाओ री!
यह रात रुपहली आयी।

मही सुप्त, निश्चेत गगन है,
आलिंगन में मौन, मगन है।
ऐसे में नभ से अशक अवनी पर आओ-जाओ री!
यह रात रुपहली आयी।

मुदित चांद की अलके चूमो,
तारों की गलियो में घूमो,
झूलो गगन-हिंडोरे पर, किरणो के तार वढाओ री!
यह रात रुपहली आयी।

सहजन्या

धुली चाँदनी मे शोभा मिट्टी की भी जगती है,
कभी-कभी यह धरती भी कितनी सुन्दर लगती है!
जी करता है यही रहे, हम फूलो मे बस जाये।

रंभा

दूर-दूर तक फैल रही दूवो की हरियाली है,
बिछी हुई इस हरियाली पर शबनम की जाली है।
जी करता है, इन शीतल बूंदो मे खूब नहाये।

मेनका

आज शाम से ही हम तो भीतर से हरी-हरी है,
लगता है, आकठ गीत के जल से भरी-भरी है।
जी करता है, फूलो को प्राणो का गीत सुनायें।

(समवेत गान)

हम गीतो के प्राण सघन,
छूम छनन छन्, छूम छनन।

वजा व्योम-वीणा के तार,
भरती हम नीली झकार,
सिहर-सिहर उठता त्रिभुवन।
छूम छनन छन्, छूम छनन।

सपनो की सुषमा रगीन,
कलित कल्पना पर उड्डीन,
हम फिरती है भवन-भवन।
छूम छनन छन्, छूम छनन।

हम अभुक्त आनन्द-हिलोर,
भिगो भूमि-अवर के छोर,
वरसाती फिरती रस-कन।
छूम छनन छन्, छूम छनन

रंभा

बिछा हुआ है जाल रश्मि का, मही मग्न सोती है,
अभी मृत्ति को देख स्वर्ग को भी ईर्ष्या होती है।

मेनका

कौन भेद है, क्या अन्तर है धरती और गगन मे,
उठता है यह प्रश्न कभी रभे! तेरे भी मन मे?

रंभा

प्रश्न उठे या नही, किन्तु, प्रत्यक्ष एक अतर है,
मर्त्यलोक मरनेवाला है, पर, सुरलोक अमर है।
अमिट, स्निग्ध, निर्धूम शिखा-सी देवो की काया है,
मर्त्यलोक की सुन्दरता तो क्षण भर की माया है।

मेनका

पर, तुम भूल रही हो रभे। नश्वरता के वर को,
भू को जो आनन्द सुलभ है, नही प्राप्त अम्वर को।
हम भी कितने विवश। गन्ध पी कर ही रह जाते हैं,
स्वाद व्यजनो का न कभी रसना से ले पाते हैं।
हो जाते हैं तृप्त पान कर स्वर-माधुरी श्रवण से,
रूप भोगते हैं मन से या तृष्णा-भरे नयन से।
पर, जव कोई ज्वार रूप को देख उमड आता है,
किसी अनिर्वचनीय क्षुधा मे जीवन पड जाता है,

उस पीडा से बचने की तब राह नही मिलती है,
उठती जो वेदना यहाँ, खुल कर न कभी खिलती है।
किन्तु, मर्त्य जीवन पर ऐसा कोई बन्ध नही है,
रुके गन्ध तक, वहाँ प्रेम पर यह प्रतिबन्ध नही है।

नर के वश की बात, देवता बने कि नर रह जाये,
रुके गन्ध पर या बढकर फूलो को गले लगाये।
पर, सुर बने मनुज भी, वे यह स्वत्व न पा सकते है,
गन्धो की सीमा से आगे देव न जा सकते है।

क्या है यह अमरत्व? समीरो-सा सौरभ पीना है,
मन मे धूम समेट शान्ति से युग-युग तक जीना है।
पर, सोचो तो, मर्त्य मनुज कितना मधु-रस पीता है!
दो दिन ही हो, पर, कैसे वह धधक-धधक जीता है!
इन ज्वलन्त वेगो के आगे मलिन शान्ति सारी है,
क्षण भर की उन्मद तरग पर चिरता बलिहारी है।

सहजन्या

साधु! साधु! मेनके! तुम्हारा भी मन कही फँसा है?
मिट्टी का मोहन कोई अन्तर मे आन वसा है?
तुम भी हो वन गयी महीतल पर रूपसी किसी की?
किन्ही मर्त्य नयनो की रस-प्रतिमा, उर्वशी किसी की?
सखी उर्वशी-सी तुम भी लगती कुछ मदमाती हो,
मर्त्यो की महिमा तुम भी तो उसी तरह गाती हो।

रंभा

अरी, ठीक, तू ने सहजन्ये! अच्छी याद दिलायी,
आज हमारे साथ यहाँ उर्वशी नही क्यो आयी?

सहजन्या

वाह! तुम्हे ही ज्ञात नही है कथा प्राणप्यारी की
तुम्ही नही जानती प्रेम की व्यथा दिव्य नारी की?
नही जानती हो कि एक दिन हम कुवेर के घर से
लौट रही थी जव, इतने मे एक दैत्य ऊपर से
टूटा लुब्ध श्येन-सा हमको त्रास अपरिमित देकर
और तुरत उड गया उर्वशी को वाँहो मे लेकर।

रंभा

वाँहो में ले उडा? अरी, आगे की कथा सुनाओ।

सहजन्या

यही कि हम रो उठी, "दौडकर कोई हमे वचाओ।"

रंभा

तव क्या हुआ?

सहजन्या

दौड पडे वे पुकार हमारी सुनी एक राजा ने,
और उन्ही नरवीर नृपति के पौरुप से, भुजवल से
मुक्त हुई उर्वशी हमारी उस दिन काल-कवल से।

रंभा

ये राजा तो वड़े वीर है।

सहजन्या

और परम सुन्दर भी।
ऐसा मनोमुग्धकारी तो होता नही अमर भी।
इसीलिए तो सखी उर्वशी, ऊषा नन्दनवन की,
सुरपुर की कौमुदी, कलित कामना इन्द्र के मन की,
सिद्ध विरागी की समाधि मे राग जगानेवाली,
देवो के शोणित मे मधुमय आग लगानेवाली,
रति की मूर्त्ति, रमा की प्रतिमा, तृषा विश्वमय नर की,
विधु की प्राणेश्वरी, आरती-शिखा काम के कर की,
जिसके चरणो पर चढने को विकल-व्यग्र जन-जन है,
जिस सुषमा के मदिर ध्यान मे मगन-मुग्ध त्रिभुवन है,
पुरुषरत्न को देख न वह रह सकी आप अपने मे,
डूब गयी सुरपुर की शोभा मिट्टी के सपने मे।
प्रस्तुत हैं देवता जिसे सब कुछ देकर पाने को,
स्वर्ग-कुसुम वह स्वय विकल है वसुधा पर जाने को।

रंभा

सो क्या, अब उर्वशी उतर कर भू पर सदा रहेगी?
निरी मानवी बनकर मिट्टी की सब व्यथा सहेगी?

सहजन्या

सो जो हो, पर, प्राणो मे उसके जो प्रीति जगी है,
अन्तर की प्रत्येक शिरा मे ज्वाला जो सुलगी है,
छोडेगी वह नही उर्वशी को अब देव-निलय मे,
ले जायेगी खीच उसे उस नृप के बाहु-वलय मे।

रंभा

ऐसा कठिन प्रेम होता है?

सहजन्या

कहते हैं, धरती पर सब इसमे क्या विस्मय है?
लगता है यह जिसे, उसे रोगो से कठिन प्रणय है।
दिवस रुदन मे, रात आह भरने मे कट जाती है,
मन खोया-खोया, आँखे कुछ भरी-भरी रहती है।
भीगी पुतली मे कोई तस्वीर खडी रहती है।
सखी उर्वशी भी कुछ दिन से है खोयी-खोयी-सी,
तन से जगी, स्वप्न के कुजो मे मन से सोयी-सी।
खडी-खड़ी अनमनी तोडती हुई कुसुम-पखडियाँ
किसी ध्यान मे पडी गँवा देती घडियो पर घडियाँ।
दृग से झरते हुए अश्रु का ज्ञान नही होता है,
आया-गया कौन, इसका कुछ ध्यान नही होता है।
मुख-सरोज मुसकान बिना आभा-विहीन लगता है,
भुवन-मोहिनी श्री का चद्रानन मलीन लगता है।
सुनकर जिनकी झमक स्वर्ग की तद्रा फट जाती थी,
योगी की साधना, सिद्ध की नीद उचट जाती थी,
वे नूपुर भी मौन पड़े है, निरानन्द सुरपुर है,
देवसभा मे लहर लास्य की अब वह नही मधुर है।

क्या होगा उर्वशी छोड जब हमे चली जायेगी?

रंभा

स्वर्ग बनेगा मही, मही तब सुरपुर हो जायेगी।

सहजन्ये। पर, हम परियो का इतना भी रोना क्या?
किसी एक नर के निमित्त इतना धीरज खोना क्या?

हम भी है मानवी कि ज्यो ही प्रेम उगे, रुक जायें,
मिले जहाँ भी दान हृदय का, वही मग्न झुक जाये?
प्रेम मानवी की निधि है, अपनी तो वह क्रीडा है,
प्रेम हमारा स्वाद, मानवी की आकुल पीडा है।

जनमी हम किस लिए? मोद सब के मन मे भरने को।
किसी एक को नही मुग्ध जीवन अर्पित करने को।
सृष्टि हमारी नही सकुचित किसी एक आनन मे,
किसी एक के लिए सुरभि हम नही सँजोती तन मे।

खल-खल कर वह रहा मुक्त जो, कूलहीन वह जल है,
किसी गेह का नही दीप जो, हम वह द्युति कोमल है।
रचना की वेदना जगा जग मे उमग भरती है,
कभी देवता, कभी मनुज का आलिगन करती है।
पर, यह परिरभण प्रकाश का, मन का रश्मि-रमण है,
गन्धो के जग मे दो प्राणो का निर्मुक्त भ्रमण है।

सच है, कभी-कभी तन से भी मिलती रागमयी हम,
कनक-रग मे नर को रँग देती अनुरागमयी हम,
देती मुक्त उँडेल अधर-मधु ताप-तप्त अधरों मे,
सुख से देती छोड कनक-कलशो को उष्ण करो मे;
पर, यह तो रसमय विनोद है, भावो का खिलना है,
तन की उद्वेलित तरग पर प्राणो का मिलना है।

रचना की वेदना जगाती, पर, न स्वय रचती हम,
बँध कर कही विविध पीडाओ मे न कभी पचती हम।
हम सागर-आत्मजा सिन्धु-सी ही असीम उच्छल है,
इच्छाओ की अमित तरगो से झकृत, चचल है।

सहजन्या

इसमे क्या विस्मय है?
कहते है, धरती पर सब गेगो से कठिन प्रणय है।
लगता है यह जिसे, उसे फिर नीद नही ग्राती है,
दिवस रुदन मे, रात ग्राह भरने मे कट जाती है।
मन खोया-खोया, ग्राँखे कुछ भरी-भरी रहती है,
भीगी पुतली मे कोई तस्वीर खडी रहती है।
सखी उर्वशी भी कुछ दिन से है खोयी-खोयी-सी,
तन से जगी, स्वप्न के कुजो मे मन से सोयी-सी।
खड़ी-खडी ग्रनमनी तोडती हुई कुमुम-पखडियाँ
किसी ध्यान मे पडी गँवा देती घडियो पर घडियाँ।
दृग से झरते हुए ग्रश्रु का ज्ञान नही होता है,
ग्राया-गया कौन, इसका कुछ ध्यान नही होता है।
मुख-सरोज मुसकान बिना ग्राभा-विहीन लगता है,
भुवन-मोहिनी श्री का चद्रानन मलीन लगता है।
सुनकर जिनकी झमक स्वर्ग की तद्रा फट जाती थी,
योगी की साधना, सिद्ध की नीद उचट जाती थी,
वे नूपुर भी मौन पड़े है, निरानन्द सुरपुर है,
देवसभा मे लहर लास्य की ग्रब वह नही मधुर है।

क्या होगा उर्वशी छोड जब हमे चली जायेगी?

रंभा

स्वर्ग बनेगा मही, मही तब सुरपुर हो जायेगी।

सहजन्ये! पर, हम परियो का इतना भी रोना क्या?
किसी एक नर के निमित्त इतना धीरज खोना क्या?

हम भी है मानवी कि ज्यो ही प्रेम उगे, रुक जायें,
मिले जहाँ भी दान हृदय का, वही मग्न झुक जाये?
प्रेम मानवी की निधि है, अपनी तो वह क्रीडा है,
प्रेम हमारा स्वाद, मानवी की आकुल पीडा है।

जनमी हम किस लिए? मोद सब के मन मे भरने को।
किसी एक को नही मुग्ध जीवन अर्पित करने को।
सृष्टि हमारी नही सकुचित किसी एक आनन मे,
किसी एक के लिए सुरभि हम नही सँजोती तन मे।

खल-खल कर वह रहा मुक्त जो, कूलहीन वह जल है,
किसी गेह का नही दीप जो, हम वह द्युति कोमल है।
रचना की वेदना जगा जग मे उमग भरती है,
कभी देवता, कभी मनुज का आलिगन करती है।
पर, यह परिरभण प्रकाश का, मन का रश्मि-रमण है,
गन्धो के जग मे दो प्राणो का निर्मुक्त भ्रमण है।

सच है, कभी-कभी तन से भी मिलती रागमयी हम,
कनक-रग मे नर को रँग देती अनुरागमयी हम,
देती मुक्त उँडेल अधर-मधु ताप-तप्त अधरों मे,
सुख से देती छोड कनक-कलशो को उष्ण करो मे;
पर, यह तो रसमय विनोद है, भावो का खिलना है,
तन की उद्वेलित तरग पर प्राणो का मिलना है।

रचना की वेदना जगाती, पर, न स्वय रचती हम,
बँध कर कही विविध पीडाओ मे न कभी पचती हम।
हम सागर-आत्मजा सिन्धु-सी ही असीम उच्छल है,
इच्छाओ की अमित तरगो से झकृत, चचल है।

हम तो हैं अप्सरा पवन मे मुक्त विहरनेवाली,
गीत-नाद, सौरभ-सुवास से सब को भरनेवाली।

अपना है आवास, न जाने, कितनो की चाहो मे,
कैसे हम बँध रहे किसी भी नर की दो बाँहो मे?

और उर्वशी जहाँ वास करने पर आन तुली है,
उस धरती की व्यथा अभी तक उस पर नही खुली है।

सहजन्या

कौन व्यथा उर्वशी भला पायेगी भू पर जा कर?
सुख ही होगा उसे वहाँ प्रियतम को कठ लगा कर।

रंभा

सो सुख तो होगा, परन्तु, यह मही बडी कुत्सित है,
जहाँ प्रेम की मादकता में भी यातना निहित है।
नही पुष्प ही अलम्, वहाँ फल भी जनना होता है,
जो भी करती प्रेम, उसे माता बनना होता है।

और मातृ-पद को पवित्र धरती, यद्यपि, कहती है,
पर, माता बन कर नारी क्या क्लेश नही सहती है?
तन हो जाता शिथिल, दान मे यौवन गल जाता है,
ममता के रस मे प्राणो का वेग पिघल जाता है।
रुक जाती है राह स्वप्न-जग मे आने-जाने की,
फूलो मे उन्मुक्त घूमने की, सौरभ पाने की।
मेघो मे कामना नही उन्मुक्त खेल करती है,
प्राणो मे फिर नही इन्द्रधनुषी उमग भरती है।

रोग, शोक, सताप, जरा, सब आते ही रहते है,
पृथ्वी के प्राणी विषाद नित पाते ही रहते है।

अच्छी है यह भूमि जहाँ बूढ़ी होती है नारी,
कण भर मधु का लोभ और इतनी विपत्तियाँ सारी?

सहजन्या

उफ़! ऐसी है घृणित भूमि? तब तो उर्वशी हमारी,
सचमुच ही, कर रही नरक में जाने की तैयारी।
तू ने भी रंभे! निर्घिन क्या बातें बतलायी है!
अब तो मुझे मही रौरव-सी पड़ती दिखलायी है।

गर्भ-भार उर्वशी मानवी के समान ढोयेगी?
यह शोभा, यह गठन देह की, यह प्रकान्ति खोयेगी?
जो अयोनिजा स्वयं, वही योनिज संतान जनेगी?
यह सुरम्य सौरभ की कोमल प्रतिमा जननि बनेगी?
किरणमयी यह परी करेगी यह विरूपता धारण?
वह भी और नहीं कुछ, केवल एक प्रेम के कारण?

रंभा

हाँ, अब परियाँ भी पूजेंगी प्रेम-देवता जी को,
और स्वर्ग की विभा करेगी नमस्कार धरती को।
जहाँ प्रेम राक्षसी भूख से क्षण-क्षण अकुलाता है,
प्रथम ग्रास में ही यौवन की ज्योति निगल जाता है;
धर देता है भून रूप को दाहक आलिंगन से,
छवि को प्रभाहीन कर देता ताप-तप्त चुम्बन से;
पतझर का उपमान बना देता वाटिका हरी को,
और चूमता रहता फिर सुन्दरता की ठठरी को।
इसी देव की बाँहों में झुलसेंगी अब परियाँ भी,
यौवन को कर भस्म बनेंगी माता अप्सरियाँ भी।
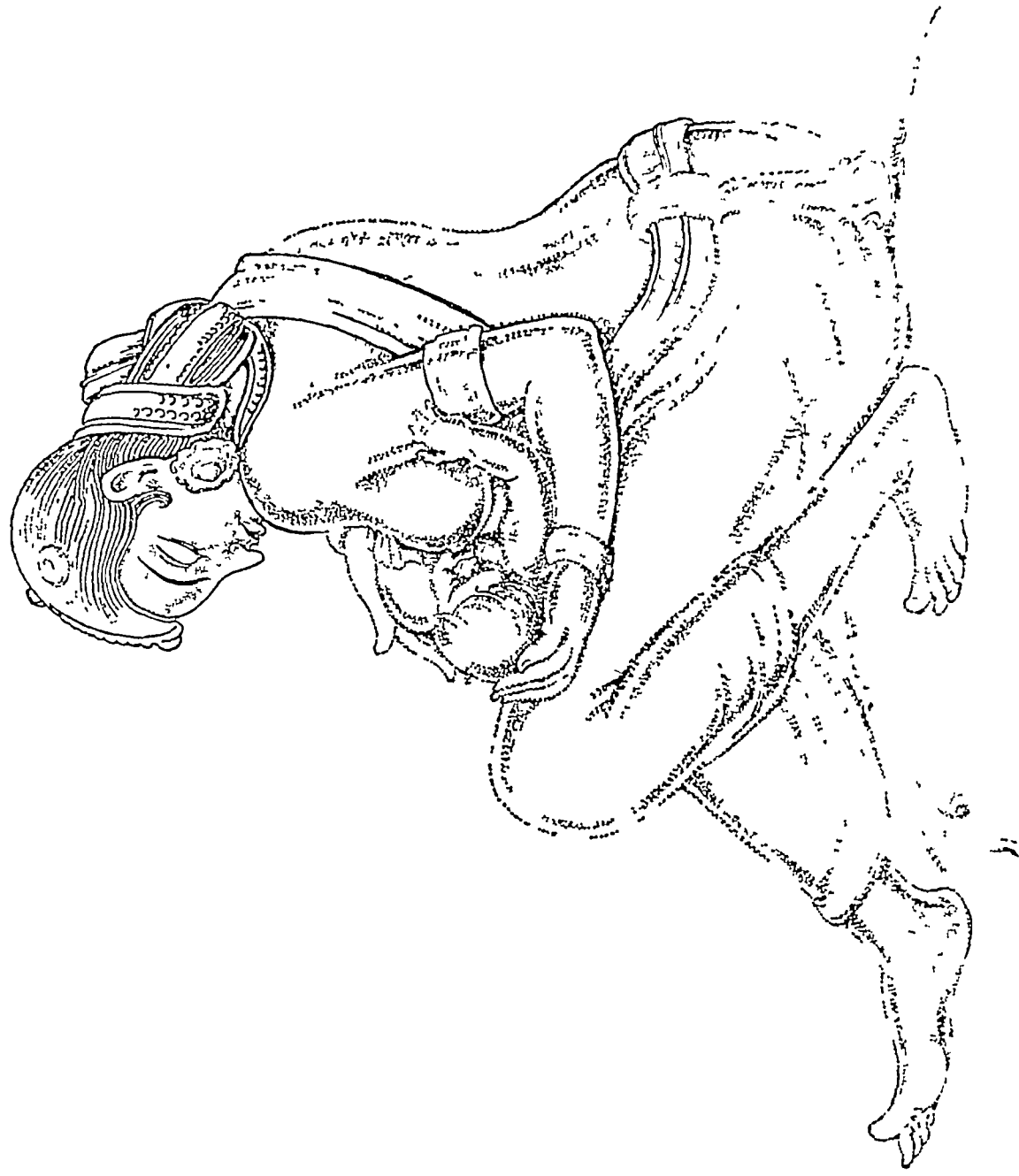
गलती है हिमशिला, सत्य है, गठन देह की खोकर ;
पर, हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर !

पुत्रवती होगी, शिशु को गोदी मे हलरायेंगी,
मदिर तान को छोड़ साँझ से ही लोरी गायेगी।
पहनेगी कंचुकी क्षीर से क्षण-क्षण गीली-गीली,
नेह लगायेगी मनुष्य से, देह करेगी ढीली।

मेनका

पर, रंभे! क्या कभी बात यह भी मन में आती है,
माँ बनते ही त्रिया कहाँ से कहाँ पहुँच जाती है?
गलती है हिमशिला, सत्य है, गठन देह की खो कर,
पर, हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी हो कर?
युवा जननि को देख शान्ति कैसी मन मे जगती है!
रूपमती भी सखी! मुझे तो वही त्रिया लगती है,
जो गोदी मे लिये क्षीरमुख शिशु को सुला रही हो
अथवा खड़ी प्रसन्न पुत्र का पलना झुला रही हो।

(एक अप्सरा गुनगुनाती हुई उडती आ रही है।)

रंभा

अरी, देख तो उधर, कौन यह गुन-गुन कर गाती है?
रँगी हुई बदली-सी उड़ती कौन चली आती है?
तुम्हे नही लगता क्या, जैसे इसे कही देखा है?

सहजन्या

दुत् पगली! यह तो अपनी ही सखी चित्रलेखा है।

सब

अरी चित्रलेखे! हम सब है यहाँ कुसुम के वन में;
जल्दी आ, सब लोग चले उड़ हो कर साथ गगन में।
भीग रही है वायु, रात अब बहुत अधिक गहरायी।

रंभा

छोड़ दिया नि.संग उसे प्रियतम से विना मिलाये?

चित्रलेखा

युक्ति ठीक है वही, समय जिसको उपयुक्त वताये।
अभी वहाँ आयी थी राजा से मिलने को रानी,
हमें देख लेती वे तो फिर वढती वृथा कहानी।

नृप को पर है विदित, उर्वशी उपवन मे आयी है,
अत:, मिलन की उत्कठा उनके मन मे छायी है।
रानी ज्यों ही गयी, प्रकट उर्वशी कुज से होगी,
फिर तो मुक्त मिलेगे निर्जन मे विरहिणी-वियोगी।

रंभा

अरी, एक रानी भी है राजा को?

चित्रलेखा

तो क्या भय है?
एक घाट पर किस राजा का रहता वँधा प्रणय है?
नया वोध श्रीमन्त प्रेम का करते ही रहते हैं,
नित्य नयी सुन्दरताओ पर मरते ही रहते हैं।
सहधर्मिणी गेह मे आती कुल-पोपण करने को,
पति को नही नित्य नूतन मादकता से भरने को।
किन्तु, पुरुप चाहता भीगना मधु के नये क्षणो से,
नित्य चूमना एक पुप्प अभिसिंचित ओस-कणो से।
जितने भी हो कुसुम, कौन उर्वशी-सदृश, पर, होगा?
उसे छोड़ अन्यत्र रमे, दृगहीन कौन नर होगा?

कुल की हो जो भी, रानी उर्वशी हृदय की होगी,
एकमात्र स्वामिनी नृपति के पूर्ण प्रणय की होगी।

सहजन्या

तब तो अपर स्वर्ग मे ही तू उसको धर आयी है,
नन्दन-वन को लूट ज्योति से भू को भर आयी है।

मेनका

अपर स्वर्ग तुम कहो, किन्तु, मेरे मन में संशय है।
कौन जानता है, राजा का कितना तरल हृदय है?
सखी उर्वशी की पीडा, माना, तुम जान चुकी हो;
चित्रे! पर, क्या, इसी भाँति, नृप को पहचान चुकी हो?
तडप रही उर्वशी स्वर्ग तज कर जिसको वरने को,
प्रस्तुत है वह भी क्या उसका आलिगन करने को?
दहक उठी जो आग चित्रलेखे! अमर्त्य के मन मे,
देखा कभी धुआँ भी उसका तू ने मर्त्य भुवन मे?

चित्रलेखा

धुआँ नही, ज्वाला देखी है, ताप उभयदिक् सम है,
जो अमर्त्य की आग, मर्त्य की जलन न उससे कम है।
सुखामोद से उदासीन जैसे उर्वशी विकल है,
उसी भाँति दिन-रात कभी राजा को रंच न कल है।

छिपकर सुना एक दिन कहते उन्हे स्वयं निज मन से,
"वृथा लौट आया उस दिन उज्ज्वल मेघो के वन से।
नीति-भीति, सकोच-शील का ध्यान न टुक लाना था,
मुझे त्रस्त उस सपने के पीछे-पीछे जाना था।

"एक मूर्त्ति मे सिमट गयी किस भाँति सिद्धियाँ सारी?
कब था ज्ञात मुझे, इतनी सुन्दर होती है नारी?
लाल-लाल वे चरण कमल-से, कुकुम-से, जावक-से,
तन की रक्तिम कान्ति शुद्ध, ज्यो, धुली हुई पावक से।
जग भर की माधुरी अरुण अधरो मे धरी हुई-सी,
आँखों मे वारुणी - रंग निद्रा कुछ भरी हुई-सी।
तन-प्रकान्ति मुकुलित अनन्त ऊषाओ की लाली-सी,
नूतनता संपूर्ण जगत् की संचित हरियाली-सी।
पग पडते ही फूट पड़े विद्रुम-प्रवाल धूलो से,
जहाँ खड़ी हो, वही व्योम भर जाय श्वेत फूलो से।

"दर्पण, जिसमें प्रकृति रूप अपना देखा करती है;
वह सौन्दर्य कला जिसका सपना देखा करती है।
नही, उर्वशी नारि नही, आभा है निखिल भुवन की;
रूप नही, निष्कलुष कल्पना है स्रष्टा के मन की।"

फिर बोले, "जानें, कब तक परितोष प्राण पायेगे?
अन्तरग्नि में पडे स्वप्न कब तक जलते जायेगे?
जानें, कब कल्पना रूप धारण कर अक भरेगी?
कल्पलता, जानें, आलिंगन से कब तपन हरेगी?
आह! कौन मन पर यों मढ सोने का तार रही है?
मेरे चारों ओर कौन चाँदनी पुकार रही है?

"नक्षत्रों के बीज प्राण के नभ में बोनेवाली!
ओ रसमयी वेदनाओ मे मुझे डुबोनेवाली!
स्वर्गलोक की सुधे! अरी, ओ, आभा नन्दन - वन की!
किस प्रकार तुझ तक पहुँचाऊँ पीडा मै निज मन की?
स्यात्, अभी तप ही अपूर्ण है, न तो भेद अम्बर को
छुआ नही क्यो मेरी आहो ने तेरे अन्तर को?

"पर, मैं नही निराश, सृष्टि में व्याप्त एक ही मन है,
और शब्दगुण गगन रोकता रव का नही गमन है।
निश्चय, विरहाकुल पुकार से कभी स्वर्ग डोलेगा;
और नीलिमा-पुज हमारा मिलन-मार्ग खोलेगा।

"मेरे अश्रु ओस बन कर कल्पद्रुम पर छायेंगे,
पारिजात-वन के प्रसून आहों से कुम्हलायेंगे।
मेरी मर्म-पुकार मोहिनी! वृथा नहीं जायेगी,
आज न तो कल तुझे इन्द्रपुर मे वह तड़पायेगी।
और वही लायेगी नीचे तुझे उतार गगन से
या फिर देह छोड़ मैं ही मिलने आऊँगा मन से।"

सहजन्या

यह कराल वेदना पुरुष की! मानव प्रणय-व्रती की!

चित्रलेखा

यही समुद्वेलन नर का शोभा है रूपमती की।
सुन्दर थी उर्वशी, आज वह और अधिक सुन्दर है।
राका की जय तभी, लहर उठता जब रत्नाकर है।

सहजन्या

महाराज पर बीत रहा इतना कुछ? तब तो रानी
समझ गयी होगी, मन ही मन, सारी गूढ कहानी।

चित्रलेखा

कैसे समझे नही! प्रेम छिपता है कभी छिपाये?
कुल-वामा क्या करे, किन्तु, जब यह विपत्ति आ जाये?
प्रिय की प्रीति हेतु रानी कोई व्रत साध रही है,
सुना, आजकल चद्र-देवता को आराध रही है।

सहजन्या

तब तो चंद्रानना-चंद्र में अच्छी होड़ पड़ी है।

मेनका

यह भी है कुछ ध्यान, रात अब केवल चार घड़ी है?

रंभा

अच्छा, कोई तान उठाओ, उड़ो मुक्त अम्बर में,
भू को नभ के साथ मिलाये चलो गीत के स्वर मे।

(समवेत गान)

बरस रही मधु धार गगन से, पी ले यह रस रे!
उमड़ रही जो विभा, उसे बढ़ बाँहों में कस रे!

इस अनन्त रसमय सागर का अतल और मधुमय है,
डूब, डूब, फेनिल तरग पर मान नही बस रे!

दिन की जैसी कठिन धूप, वैसा ही तिमिर कुटिल है,
रच रे, रच झिलमिल प्रकाश, चाँदनियों में बस रे!

(सब गाते-गाते उड़कर आकाश में विलीन हो जाती हैं।)

द्वितीय अङ्क

प्रियवचनशतोऽपि योषिताम्
दयितजनानुनयो रसादृते,
प्रविशति हृदयं न तद्विदाम्
मणिरिव कृत्रिमरागयोजितः ।

—विक्रमोर्वशीयम्

... कभी-कभी तन से भी मिलतीं रागमयी हम ।

[प्रतिष्ठानपुर का राजभवन पुरूरवा की महारानी
औशीनरी अपनी दो सखियो के साथ]

औशीनरी

तो वे गये ?

निपुणिका

गये। उस दिन जब पति का पूजन करके
लौटी आप प्रमदवन से संतोष हृदय मे भरके,
लेकर यह विश्वास, रोहिणी और चद्रमा जैसे
है अनुरक्त, आपके प्रति भी महाराज अब वैसे
प्रेमासक्त रहेगे, कोई भी न विषम क्षण होगा,
अन्य नारियो पर प्रभु का अनुरक्त नही मन होगा,
तभी भाग्य पर देवि! आपके कुटिल नियति मुसकायी,
महाराज से मिलने को उर्वशी स्वर्ग से आयी।

औशीनरी

फिर क्या हुआ ?

निपुणिका

देवि, वह सव भी क्या अनुचरी कहेगी ?

औशीनरी

पगली ! कौन व्यथा है जिसको नारी नही सहेगी ?

कहती जा सब कथा, अग्नि की रेखा को चलने दे,
जलता है यदि हृदय अभागिन का, उसको जलने दे।
सानुकूलता कितनी थी उस दिन स्वामी के स्वर में!
समझ नहीं पाती, कैसे वे बदल गये क्षण भर मे!
ऐसी भी मोहिनी कौन-सी परियाँ कर सकती है,
पुरुषों की धीरता एक पल में यों हर सकती हैं!

छला अप्सरा ने स्वामी को छवि से या माया से?

निपुणिका

प्रकटी जब उर्वशी चाँदनी में द्रुम की छाया से,
लगा, सर्प के मुख से जैसे मणि बाहर निकली हो,
याकि स्वयं चाँदनी स्वर्ण-प्रतिमा में आन ढली हो;
उतरी हो धर देह स्वप्न की विभा प्रमद-उपवन की,
उदित हुई हो याकि समन्वित नारीश्री त्रिभुवन की।
कुसुम-कलेवर में प्रदीप्त आभा ज्वालामय मन की,
चमक रही थी नग्न कान्ति वसनों से छनकर तन की।
हिमकण-सिक्त-कुसुम-सम उज्ज्वल अंग-अंग झलमल था,
मानो, अभी-अभी जल से निकला उत्फुल्ल कमल था।
किसी सान्द्र वन के समान नयनों की ज्योति हरी थी,
बड़ी-बड़ी पलकों के नीचे निद्रा भरी-भरी थी।
अंग-अंग में लहर लास्य की राग जगानेवाली,
नर के सुप्त, शान्त शोणित में आग लगानेवाली।

मदनिका

सुप्त, शान्त कहती हो? जलधारा को पाषाणों में
हाँक रही जो शक्ति, वही छिपकर नर के प्राणो में,
दौड़-दौड़ शोणित-प्रवाह में लहरें उपजाती है,
और किसी दिन फूट प्रेम की धारा बन जाती है।

पर, तुम कहो कथा आगे की, पूर्ण चंद्र जब आया,
अचल रहा अथवा मर्यादा छोड़ सिन्धु लहराया?

निपुणिका

सिन्धु अचल रहता तो हम क्यों रोते राजमहल में?
जलते क्यो इस भाँति भाग्य के दारुण कोपानल मे?

महाराज ने देख उर्वशी को अधीर अकुला कर,
बाँहों मे भर लिया दौड़ गोदी मे उसे उठाकर।
समा गयी उर-बीच अप्सरा सुख-सभार-नता-सी,
पर्वत के पखों में सिमटी गिरिमल्लिका-लता-सी।

और प्रेम-पीड़ित नृप बोले, "क्या उपचार करूँ मैं?
सुख की इस मादक तरग को कहाँ समेट धरूँ मैं?
गहा चाहता सिन्धु प्राण का कौन अदृश्य किनारा?
छुआ चाहती किसे हृदय को फोड़ रक्त की धारा?
कौन सुरभि की दिव्य वेलि प्राणो में गमक उठी है?
नयी तारिका कौन आज मूर्धा पर चमक उठी है?
किस पाटल के गन्ध-विकल दल उडकर अनिल-लहर में
मन्द-मन्द तिर रहे आज प्राणो के मादक सर मे?
सुगंभीर सुख की समाधि यह भी कितनी निस्तल है?
डूबे प्राण जहाँ तक, रस ही रस है, जल ही जल है।

"प्राणो की मणि! अयि मनोज्ञ मोहिनी! दुरन्त विरह मे
नही झेलता रहा वेदनाएँ क्या-क्या दुस्सह मैं?
दिवा-रात्रि उन्निद्र पलो मे तेरा ध्यान सँजो कर
काट दिये आतप, वर्षा, हिमकाल सतत रो-रो कर।
विदा समय तू ने देखा था जिस मधु-मत्त नयन से,
वह प्रतिमा, वह दृष्टि न भूली कभी एक क्षण मन से।

"धरते तेरा ध्यान चाँदनी मन में छा जाती थी,
चुम्बन की कल्पना अग मे सिहरन उपजाती थी।
मेघों मे सर्वत्र छिपी मेरा मन तू हरती थी,
और ओट लेकर विधु की सकेत मुझे करती थी।
फूल-फूल मे यही इन्दु-मुख आकर्षण उपजा कर,
छिप जाता सौ बार विहँस इगित से मुझे बुला कर।
रस की स्रोतस्विनी यही प्राणो मे लहराती थी,
दाह-दग्ध सैकत को, पर, अभिसिक्त न कर पाती थी।
किन्तु, आज आषाढ, घनाली छायी मतवाली है,
मुझे घेर कर खड़ी हो गयी नूतन हरियाली है।

"प्राणेश्वरी! मिलन-सुख को, नित होकर संग वरें हम,
मधुमय हरियाले निकुंज मे आजीवन विचरें हम।"

औशीनरी

आजीवन वे साथ रहेगे? तो अब क्या करना है?
जीते जी यह मरण झेलने से अच्छा मरना है।

निपुणिका

मरण श्रेष्ठ है, किन्तु, आपको वह भी सुलभ नही है।
जाते समय मन्त्रियों से प्रभु ने यह बात कही है;
"एक वर्ष पर्यन्त गन्धमादन पर हम विचरेंगे,
प्रत्यागत हो नैमिषेय नामक शुभ यज्ञ करेंगे।"
विचरें गिरि पर महाराज हो वशीभूत प्रीता के,
यज्ञ न होगा पूर्ण विना कुलवनिता परिणीता के।

इसी धर्म के लिए आपको भुवनेश्वरि! जीना है।

औशीनरी

हाय, मरण तक जी कर मुझ को हालाहल पीना है।

जाने, इस गणिका का मैने कब क्या अहित किया था,
कब, किस पूर्व जन्म मे उसका क्या सुख छीन लिया था,
जिसके कारण भ्रमा हमारे महाराज की मति को,
छीन ले गयी अधम पापिनी मुझ से मेरे पति को।

ये प्रवचिकाएँ, जाने, क्यो तरस नही खाती है,
निज विनोद के हित कुल-वामाओ को तड़पाती है।

जाल फेकती फिरती अपने रूप और यौवन का,
हँसी-हँसी मे करती है आखेट नरो के मन का।
किन्तु, बाण इन व्याधिनियो के किसे कष्ट देते है?
पुरुषो को दे मोद प्राण वे वधुओं के लेते है।

निपुणिका

पर, कैसी है कृपा भाग्य की इस गणिका के ऊपर!
बरस रहा है महाराज का सारा प्रेम उमड़ कर।

जिधर-जिधर उर्वशी घूमती, देव उधर चलते है,
तनिक श्रान्त यदि हुई, व्यजन पल्लव-दल से झलते है।

निखिल देह को गाढ दृष्टि के पय से मज्जित करके,
अग-अग किसलय, पराग, फूलो से सज्जित करके,
फिर तुरत कहते, "ये भी तो ठीक नही जँचते है,"
भाँति-भाँति के विविध प्रसाधन बार-बार रचते है।

और उर्वशी पी कर सब आनन्द मौन रहती है,
अर्धचेत पुलकातिरेक मे मन्द-मन्द बहती है।

मदनिका

इसमे क्या आश्चर्य? प्रीति जब प्रथम-प्रथम जगती है,
दुर्लभ स्वप्न-समान रम्य नारी नर को लगती है।

कितनी गौरवमयी घडी वह भी नारी-जीवन की,
जब अजेय केसरी भूल सुध-बुध समस्त तन-मन की
पद पर रहता पड़ा, देखता अनिमिप नारी-मुख को,
क्षण-क्षण रोमाकुलित, भोगता गूढ अनिर्वच सुख को!

यही लग्न है वह जब नारी, जो चाहे, वह पा ले,
उडुओ की मेखला, कौमुदी का दुकूल मँगवा ले।
रँगवा ले उँगलियाँ पदो की ऊषा के जावक से,
सजवा ले आरती पूर्णिमा के विधु के पावक से।

तपोनिष्ठ नर का सचित तप और ज्ञान ज्ञानी का,
मानशील का मान, गर्व गर्वीले, अभिमानी का,
सब चढ जाते भेंट, सहज ही, प्रमदा के चरणो पर,
कुछ भी बचा नही पाता नारी से उद्वेलित नर।

किन्तु, हाय, यह उद्वेलन भी कितना मायामय है!
उठता धधक सहज जिस आतुरता से पुरुप-हृदय है,
उस आतुरता से न ज्वार आता नारी के मन मे,
रखा चाहती वह समेट कर सागर को बन्धन मे।

औशीनरी

किन्तु, बंध को तोड ज्वार नारी मे जब जगता है,
तब तक नर का प्रेम शिथिल, प्रशमित होने लगता है।
पुरुष चूमता हमे अर्ध निद्रा मे हम को पा कर,
पर, हो जाता विमुख प्रेम के जग मे हमे जगा कर।

और जगी रमणी प्राणों मे लिये प्रेम की ज्वाला,
पथ जोहती हुई पिरोती बैठ अश्रु की माला।
वही आँसुओ की माला अब मुझे पिरोनी होगी।

निपुणिका

इसी भाँति क्या महाराज भी होगे नही वियोगी?
आप सदृश सन्नारी को यदि राजा तज सकते है,
आँख मूंद स्वर्वेश्या को कब तक वे भज सकते है?

औशीनरी

कौन कहे? यह प्रेम हृदय की बहुत बड़ी उलझन है।
जो अलभ्य, जो दूर, उसी को अधिक चाहता मन है।

मदनिका

उस पर भी नर मे प्रवृत्ति है क्षण-क्षण अकुलाने की,
नयी-नयी प्रतिमाओ का नित नया प्यार पाने की।
वश मे आयी हुई वस्तु से इसको तोप नही है,
जीत लिया जिसको, उससे आगे सतोप नही है।

नयी सिद्धि-हित नित्य नया संघर्ष चाहता है नर,
नया स्वाद, नव जय, नित नूतन हर्ष चाहता है नर।
बारस्पर्श से दूर, स्वप्न झलमल नर को भाता है,
छक कर जिसको पी न सका, वह जल नर को भाता है।
ग्रीवा मे झूलते कुसुम पर प्रीति नही जगती है,
जो पद पर चढ गयी, चाँदनी फीकी वह लगती है।

क्षण-क्षण प्रकटे, दुरे, छिपे फिर-फिर जो चुम्बन लेकर,
ले समेट जो निज को प्रिय के क्षुधित अक मे देकर;

जो सपने के सदृश वाहु मे उडी-उडी आती हो,
और लहर-सी लौट तिमिर में डूब-डूब जाती हो,
प्रियतम को रख सके निमज्जित जो अतृप्ति के रस मे,
पुरुष वड़े सुख से रहता है उस प्रमदा के वस मे।

औशीनरी

गृहिणी जाती हार दाँव सपूर्ण समर्पण करके,
जयिनी रहती वनी अप्सरा ललक पुरुप मे भरके।
पर, क्या जाने ललक जगाना नर मे गृहिणी नारी?
जीत गयी अप्सरा, सखी! मै रानी वन कर हारी।

निपुणिका

इतना कुछ जानते हुए भी क्यो विपत्ति को आने
दिया, और पति को अपने हाथो से वाहर जाने?

महाराज भी क्या कोई दुर्वल नर साधारण है,
जिसका चित्त अप्सराएँ कर सकती सहज हरण है?
कार्त्तिकेय-सम शूर, देवताओ के गुरु-सम ज्ञानी,
रवि-सम तेजवन्त, सुरपति के सदृश प्रतापी, मानी,
घनद-सदृश सग्रही, व्योमवत् मुक्त, जलद-निभ त्यागी,
कुसुम-सदृश मधुमय, मनोज्ञ, कुसुमायुध-से अनुरागी।

ऐसे नर के लिए न वामा क्या कुछ कर सकती है?
कौन वस्तु है जिसे नही चरणो पर धर सकती है?

औशीनरी

अरी, कौन है कृत्य जिसे मैं अव तक कर न सकी हूँ?
कौन पुप्प है जिसे प्रणय-वेदी पर धर न सकी हूँ?

प्रभु को दिया नही, ऐसा तो पास न कोई धन है।
न्योछावर आराध्य-चरण पर सखि! तन, मन, जीवन है।

तब भी तो भिक्षुणी-सदृश जोहा करती हूँ मुख को,
सदा हेरती रहती प्रिय की आँखों मे निज सुख को।
पर, वह मिलता नही, चमक, जाने, खो गयी कहाँ पर!
जाने, प्रभु के मधुर प्रेम की श्री सो गयी कहाँ पर!

सब कुछ है उपलब्ध, एक सुख वही नही मिलता है,
जिससे नारी के अन्तर का मान-पद्म खिलता है।
वह सुख जो उन्मुक्त बरस पड़ता उस अवलोकन से,
देख रहा हो नारी को जब नर मधु-मत्त नयन से।

वह अवलोकन, धूल वयस की जिससे छन जाती है,
प्रौढा पा कर जिसे कुमारी युवती बन जाती है।
अति पवित्र निर्झरी क्षीरमय दृग की वह सुखकारी,
जिसमे कर अवगाह नयी फिर हो उठती है नारी।

मदनिका

जब तक यह रस-दृष्टि, तभी तक रसोद्रेक जीवन में,
आलिगन मे पुलक और सिहरन सजीव चुबन मे।
विरस दृष्टि जब हुई, स्वाद चुम्बन का खो जाता है,
दारु-स्पर्श-वत् सारहीन आलिगन हो जाता है।

वपु तो केवल ग्रन्थ मात्र है, क्या हो काय-मिलन से?
तन पर जिसे प्रेम लिखता, कविता आती वह मन से।
पर, नर के मन को सदैव वश मे रखना दुष्कर है,
फूलो से यह मही पूर्ण है और चपल मधुकर है।

पुरुष सदा आक्रान्त विचरता मादक प्रणय-क्षुधा से,
जय से उसको तृप्ति नही, सतोप न कीर्त्ति-सुधा से।
असफलता मे उसे जननि का वक्ष याद आता है,
सकट मे युवती का शय्या-कक्ष याद आता है।

संघर्षों से श्रमित-श्रान्त हो पुरुष खोजता विह्वल
सिर धर कर सोने को, क्षण भर, नारी का वक्षस्थल।
आँखो मे जब अश्रु उमडते, पुरुप चाहता चुम्बन,
और विपद में रमणी के अगो का गाढ़ालिगन।

जलती हुई धूप मे आती याद छाँह की, जल की,
या निकुज मे राह देखती प्रमदा के अचल की।
और नरो मे भी, जो जितना ही विक्रमी, प्रबल है,
उतना ही उद्दाम, वेगमय उसका दीप्त अनल है।

प्रकृति-कोष से जो जितना ही तेज लिये आता है,
वह उतना ही अनायास फूलो से कट जाता है।
अगम, अगाध, वीर नर जो अप्रतिम तेज-बल-धारी,
बड़ी सहजता से जय करती उन्हे रूपसी नारी।

तिमिराच्छन्न व्योम-वेधन मे जो समर्थ होती है,
युवती के उज्ज्वल कपोल पर वही दृष्टि सोती है।
जो बाँहे गिरि को उखाड आलिगन मे भरती है,
उर पीड-परिरभ-वेदना वही दान करती है।

जितना ही जो जलधि रत्न-पूरित, विक्रान्त, अगम है,
उसकी वाडवाग्नि उतनी ही अविश्रान्त, दुर्दम है।
बन्धन को मानते वही, जो नद, नाले, सोते है,
किन्तु, महानद तो, स्वभाव से ही, प्रचड होते है।

निपुणिका

इस प्रचडता का जग मे कोई उपचार नही है?

औशीनरी

पति के सिवा योषिता का कोई आधार नही है।
जब तक है यह दशा, नारियाँ व्यथा कहाँ खोयेगी?
आँसू छिपा हँसेगी, फिर हँसते-हँसते रोयेगी।

(कंचुकी का प्रवेश)

कंचुकी

जय हो भट्टारिके! मार्ग भट्टारक को दिखलाने
और उन्हे सक्षेम गन्धमादन गिरि तक पहुँचाने
जो सैनिक थे गये, आज वे नगर लौट आये है,
और आपके लिए सँदेशा यह प्रभु का लाये है।

"पवन स्वास्थ्यदायी, शीतल, सुस्वादु यहाँ का जल है,
झीलो मे, बस, जिधर देखिये, उत्पल ही उत्पल है।
लबे-लबे चीड ग्रीव अम्बर की ओर उठाये,
एक चरण पर खड़े तपस्वी-से है ध्यान लगाये।

दूर-दूर तक बिछे हुए फूलो के नन्दन-वन है,
जहाँ देखिये, वही लता-तरुओ के कुज-भवन है।
शिखरो पर हिमराशि और नीचे झरनो का पानी,
बीचोबीच प्रकृति सोयी है ओढ़ निचोली धानी।

बहुत मग्न, अतिशय प्रसन्न हूँ मै तो इस मधुवन में,
किन्तु, यहाँ भी कसक रही है वही वेदना मन मे।
प्रतिष्ठानपुर मे भू का स्वर्गीय तेज जगता है,
एक बराबर बिना, किन्तु, सब कुछ सूना लगता है।

पुत्र ! पुत्र ! अपने गृह में क्या दीपक नही जलेगा ?
देवि ! दिव्य यह ऐल वंश क्या आगे नही चलेगा ?
करती रहे प्रार्थना, त्रुटि हो नही धर्म-साधन मे,
जहाँ रहूँ, मै भी रत हूँ ईश्वर के आराधन मे।"

निपुणिका

सुन लिया सदेश आर्ये ?

औशीनरी

हाँ, अनोखी साधना है,
अप्सरा के संग रमना ईश की आराधना है !
पुत्र पाने के लिए विहरा करें वे कुज-वन मे,
और मै आराधना करती रहूँ सूने भवन मे।

कितना विलक्षण न्याय है !
कोई न पास उपाय है !
अवलब है सबको, मगर, नारी वहुत असहाय है।

दुख-दर्द जतलाओ नही,
मन की व्यथा गाओ नही,
नारी ! उठे जो हूक मन मे, जीभ पर लाओ नही।

तव भी मरुत अनुकूल हों,
मुझको मिले, जो शूल हो,
प्रियतम जहाँ भी हो, विछे सर्वत्र पथ मे फूल हो।

तृतीय अङ्क

पुरूरवः! पुनरस्तं परेहि,
दुरापना वात इवाहमस्मि।
—ऋग्वेद

"हे पुरूरवा! तुम अपने घर को लौट
जाओ। मैं वायु के समान दुष्प्राप्य हूँ।"

सत्य ही रहता नहीं यह ज्ञान,
तुम कविता, कुसुम या कामिनी हो।
[पृ० ५२]

[गन्धमादन पर्वत पर पुरूरवा और उर्वशी]

पुरूरवा

जब से हम-तुम मिले, न जाने, कितने अभिसारों मे
रजनी कर शृंगार सितासित नभ मे घूम चुकी है;
जाने, कितनी वार चद्रमा को, वारी बारी से,
अमा चुरा ले गयी और फिर ज्योत्स्ना ले आयी है।

जब से हम-तुम मिले, रूप के अगम, फुल्ल कानन मे
अनिमिष मेरी दृष्टि किसी विस्मय मे डूब गयी है,
अर्थ नही सूझता मुझे अपनी ही विकल गिरा का,
शब्दों से वनती है जो मूर्त्तियाँ, तुम्हारे दृग से
उठनेवाले क्षीर-ज्वार मे गलकर खो जाती है।

खडा सिहरता रहता मैं आनन्द-विकल उस तरु-सा
जिसकी डालो पर प्रसन्न गिलहरियाँ किलक रही हो,
या पत्तो मे छिपी हुई कोयल कूजन करती हो।

उर्वशी

जब से हम-तुम मिले, न जाने, क्या हो गया समय को,
लय होता जा रहा मरुद्‌गति से अतीत-गह्वर मे।
किन्तु, हाय, जब तुम्हे देख मैं सुरपुर को लौटी थी,
यही काल अजगर-समान प्राणो पर वैठ गया था।
उदित सूर्य नभ से जाने का नाम नही लेता था,
कल्प विताये विना न हटती थी वे काल-निशाएँ।

कामद्रुम-तल पड़ी तडपती रही तप्त फूलों पर;
पर, तुम आये नही कभी छिप कर भी सुधि लेने को।
निष्ठुर वन निश्चित भोगते बैठे रहे महल मे
सुख प्रताप का, यश का, जय का, कलियों का, फूलो का।

मिले, अन्त में तव, जव ललना की मर्याद गँवा कर
स्वर्ग-लोक को छोड़ भूमि पर स्वयं चली मै आयी।

पुरूरवा

चिर-कृतज्ञ हूँ इस कृपालुता के हित, किन्तु, मिलन का,
इसे छोड़ कर और दूसरा कौन पन्थ सभव था?
उस दिन दुष्ट दनुज के कर से तुम्हे विमोचित करके
और छोड कर तुम्हे तुम्हारी सखियों के हाथों मे
लौटा जब मै राज-भवन को, लगा, देह ही केवल
रथ में बैठी हुई किसी विध गृह तक पहुँच गयी है,
छूट गये है प्राण उन्ही उज्ज्वल मेघो के वन मे,
जहाँ मिली थी तुम क्षीरोदधि में लालिमा-लहर-सी।

कई वार चाहा, सुरपति से जाकर स्वय कहूँ मै,
अव उर्वशी विना यह जीवन भार हुआ जाता है,
वड़ी कृपा हो उसे आप यदि भूतल पर जाने दे।

पर, मन ने टोका, "क्षत्रिय भी भीख माँगते है क्या?
और प्रेम क्या कभी प्राप्त होता है भिक्षाटन से?
मिल भी गयी उर्वशी यदि तुझ को इन्द्र की कृपा से,
उसका हृदय-कपाट कौन तेरे निमित्त खोलेगा?
वाहर साँकल नही जिसे तू खोल हृदय पा जाये,
इस मन्दिर का द्वार सदा अन्तपुर से खुलता है।

"और कभी यह भी सोचा है, जिस सुगन्ध से छक कर
विकल वायु बह रही मत्त हो कर त्रिकाल-त्रिभुवन की,
उस दिगन्त-व्यापिनी गन्ध की अव्यय, अमर शिखा को
मर्त्य प्राण की किस निकुज-वीथी में बाँध धरेगा?"

इसीलिए, असहाय तडपता बैठा रहा महल में,
ले कर यह विश्वास, प्रीति मेरी यदि मृषा नही है,
मेरे मन का दाह व्योम के नीचे नही रुकेगा,
जलद-पुज को भेद, पहुँच कर पारिजात के वन में
वह अवश्य ही कर देगा सतप्त तुम्हारे मन को।
और प्रीति जगने पर तुम वैकुठ-लोक को तज कर
किसी रात, निश्चय, भूतल पर स्वय चली आओगी।

उर्वशी

सो तो मै आ गयी, किन्तु, यह वैसा ही आना है,
अयस्कान्त ले खीच अयस को जैसे निज बाँहो मे।
पर, इस आने मे किंचित् भी स्वाद कहाँ उस सुख का,
जो सुख मिलता उन मनस्विनी वामलोचनाओं को
जिन्हे प्रेम से उद्वेलित विक्रमी पुरुष बलशाली
रण से लाते जीत या कि बल-सहित हरण करते है।

नदियाँ आती स्वयं, ध्यान सागर, पर, कब देता है?
वेला का सौभाग्य जिसे आलिगन मे भरने को
चिर-अतृप्त, उद्भ्रान्त महोदधि लहराता रहता है।

वही धन्य जो मानमयी प्रणयी के बाहु-वलय मे
खिची नही, विक्रम-तरग पर चढी हुई आती है।

हरण किया क्यो नही, माँग लाने मे यदि अपयश था?

पुरूरवा

अयशमूल दोनो विकर्म है, हरण हो कि भिक्षाटन।
और हरण करता मैं किसका? उस सौन्दर्य-सुधा का
जो देवो की शान्ति, इन्द्र के दृग की शीतलता थी?

नही बढाया कभी हाथ पर के स्वाधीन मुकुट पर,
न तो किया संघर्ष कभी पर की वसुधा हरने को।
तब भी प्रतिष्ठानपुर वन्दित है सहस्र मुकुटो से,
और राज्य-सीमा दिन-दिन विस्तृत होती जाती है।
इसी भाँति, प्रत्येक सुयश, सुख, विजय, सिद्धि जीवन की
अनायास, स्वयमेव प्राप्त मुझ को होती आयी है।
यह सब उनकी कृपा, सृष्टि जिनकी निगूढ रचना है।
झुके हुए हम धनुष मात्र है, तनी हुई ज्या पर से
किसी और की इच्छाओ के बाण चला करते है।

मै मनुष्य, कामना-वायु मेरे भीतर वहती है
कभी मन्द गति से प्राणो मे सिहरन-पुलक जगा कर,
कभी डालियों को मरोड झझा की दारुण गति से
मन का दीपक वुझा, बना कर तिमिराच्छन्न हृदय को।
किन्तु, पुरुष क्या कभी मानता है तम के शासन को?
फिर होता सघर्ष, तिमिर मे दीपक फिर जलते है।

रंगों की आकुल तरंग जब हम को कस लेती है,
हम केवल डूबते नही, ऊपर भी उतराते है
पुण्डरीक के सदृश मृत्ति-जल ही जिसका जीवन है,
पर, तब भी रहता अलिप्त जो सलिल और कर्दम से।

नही इतर इच्छाओ तक ही अनासक्ति सीमित है,
उसका किंचित् स्पर्श प्रणय को भी पवित्र करता है।

उर्वशी

यह मैं क्या सुन रही? देवताओं के जग से चल कर
फिर मैं क्या फँस गयी किसी सुर के ही बाहु-वलय में?
अन्धकार की मैं प्रतिमा हूँ? जब तक हृदय तुम्हारा
तिमिर-ग्रस्त है, तब तक ही मैं उसपर राज करूँगी?
और जलाओगे जिस दिन तुम बुझे हुए दीपक को,
मुझे त्याग दोगे प्रभात में रजनी की माला-सी?

वह विद्युन्मय स्पर्श तिमिर है पाकर जिसे त्वचा की
नींद टूट जाती, रोमो मे दीपक बल उठते है?
वह आलिगन अधकार है, जिसमें बँध जाने पर
हम प्रकाश के महासिन्धु मे उतराने लगते है?
और कहोगे तिमिर-शूल उस चुम्बन को भी जिससे
जडता की ग्रन्थियाँ निखिल तन-मन की खुल जाती है?

यह भी कैसी द्विधा? देवता गन्धों के घेरे से
निकल नही मधुपूर्ण पुष्प का चुम्बन ले सकते है।
और देहधर्मी नर फूलो के शरीर को तज कर
ललचाता है दूर गन्ध के नभ में उड़ जाने को।

अनासक्ति तुम कहो, किन्तु, इस द्विधा-ग्रस्त मानव की
झाँकी तुम मे देख मुझे, जाने क्यो, भय लगता है।

तन से मुझ को कसे हुए अपने दृढ आलिगन में,
मन से, किन्तु, विषण्ण दूर तुम कहाँ चले जाते हो?
बरसा कर पीयूष प्रेम का, आँखो से आँखो मे,
मुझे देखते हुए कहाँ तुम जाकर खो जाते हो?
कभी-कभी लगता है, तुम से जो कुछ भी कहती हूँ,
आशय उसका नही, शब्द केवल मेरे सुनते हो।

क्षण में प्रेम अगाध, सिन्धु हो जैसे आलोडन में;
और पुनः वह शान्ति, नहीं जब पत्ते भी हिलते हैं।
अभी दृष्टि युग-युग के परिचय से उत्फुल्ल, हरी-सी,
और अभी यह भाव, गोद में पड़ी हुई मैं जैसे
युवती नारी नही, प्रार्थना की कोई कविता हूँ।

शमित-वह्नि सुर की शीतलता तो अज्ञात नही है;
पर, ज्वलन्त नर पर किसका यह अंकुश लटक रहा है,
छक कर देता उसे नही पीने जो रस जीवन का,
न तो देवता-सदृश गन्ध-नभ में जीने देता है?

पुरूरवा

कौन है अंकुश, इसे मैं भी नही पहचानता हूँ।
पर, सरोवर के किनारे कंठ मे जो जल रही है,
उस तृषा, उस वेदना को जानता हूँ।

आग है कोई, नही जो शान्त होती;
और खुल कर खेलने से भी निरन्तर भागती है।

रूप का रसमय निमंत्रण
या कि मेरे ही रुधिर की वह्नि
मुझ को शान्ति से जीने न देती।
हर घड़ी कहती, उठो,
इस चंद्रमा को हाथ से धर कर निचोडो,
पान कर लो यह सुधा, मै शान्त हूँगी,
अब नही आगे कभी उद्भ्रान्त हूँगी।

किन्तु, रस के पात्र पर ज्यों ही लगाता हूँ अधर को,
घूंट या दो घूंट पीते ही
न जाने, किस अतल से नाद यह आता,
"अभी तक भी न समझा ?
दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नही है।
रूप की आराधना का मार्ग आलिगन नही है।"

टूट गिरती है उमगे,
बाहुओ का पाश हो जाता शिथिल है।

अप्रतिभ मैं फिर उसी दुर्गम जलधि मे डूब जाता,
फिर वही उद्विग्न चिन्तन,
फिर वही पृच्छा चिरन्तन,
'रूप की आराधना का मार्ग
आलिगन नही तो और क्या है ?
स्नेह का सौन्दर्य को उपहार
रस-चुम्बन नही तो और क्या है ?"

रक्त की उत्तप्त लहरो की परिधि के पार
कोई सत्य हो तो,
चाहता हूँ, भेद उसका जान लूँ।
पन्थ हो सौदर्य की आराधना का व्योम मे यदि
शून्य की उस रेख को पहचान लूँ।

पर, जहाँ तक भी उडूँ, इस प्रश्न का उत्तर नही है।
मृत्ति महदाकाश मे ठहरे कहाँ पर ? शून्य है सब।
और नीचे भी नही सतोष,
मिट्टी के हृदय से
दूर होता ही कभी अवर नही है।

इस व्यथा को झेलता
आकाश की निस्सीमता में
घूमता फिरता विकल, विभ्रान्त
पर, कुछ भी न पाता।
प्रश्न जो कढता,
गगन की शून्यता में गूँज कर सब ओर
मेरे ही श्रवण मे लौट आता।

और इतने मे मही का गान फिर देता सुनायी,
"हम वही जग है जहाँ पर फूल खिलते हैं।
दूब है शय्या हमारे देवता की,
पुष्प के वे कुज मन्दिर है
जहाँ शीतल, हरित, एकान्त मंडप मे प्रकृति के
कंटकित युवती-युवक स्वच्छन्द मिलते हैं।

"इन कपोलों की ललाई देखते हो?
और अधरों की हँसी यह कुन्द-सी, जूही-कली-सी?
गौर चपक-यष्टि-सी यह देह श्लथ पुष्पाभरण से,
स्वर्ण की प्रतिमा कला के स्वप्न-साँचे मे ढली-सी?

"यह तुम्हारी कल्पना है, प्यार कर लो।
रूपसी नारी प्रकृति का चित्र है सबसे मनोहर।
ओ गगनचारी! यहाँ मधुमास छाया है।
भूमि पर उतरो,
कमल, कर्पूर, कुकुम से, कुटज से
इस अतुल सौन्दर्य का शृगार कर लो।"

गीत आता है मही से?
या कि मेरे ही रुधिर का राग

यह उठता गगन मे ?
बुलबुलों-सी फूटने लगती मधुर स्मृतियाँ हृदय मे,
याद आता है मदिर उल्लास मे फूला हुआ वन,
याद आते है तरगित अग के रोमाच, कपन,
स्वर्णवर्णा वल्लरी मे फूल-से खिलते हुए मुख,
याद आता है निशा के ज्वार मे उन्माद का सुख।
कामनाएँ प्राण को हिलकोरती है।
चुम्बनों के चिह्न जग पड़ते त्वचा मे।

फिर किसी का स्पर्श पाने को तृषा चीत्कार करती।
मै न रुक पाता कही,
फिर लौट आता हूँ पिपासित
शून्य से साकार सुषमा के भुवन में
युद्ध से भागे हुए उस वेदना-विह्वल युवक-सा
जो कही रुकता नही,
बेचैन जा गिरता अकुठित
तीर-सा सीधे प्रिया की गोद मे।

चूमता हूँ दूब को, जल को, प्रसूनों, पल्लवों को,
वल्लरी को बाँह भर उर से लगाता हूँ;
बालकों-सा मै तुम्हारे वक्ष मे मुँह को छिपा कर
नीद की निस्तब्धता मे डूब जाता हूँ।

नीद जल का स्रोत है, छाया सघन है,
नीद श्यामल मेघ है, शीतल पवन है।

किन्तु, जग कर देखता हूँ,
कामनाएँ वर्तिका-सी जल रही है,
जिस तरह पहले पिपासा से विकल थी,
प्यास से आकुल अभी भी जल रही है।

रात भर, मानो, उन्हें दीपक-सदृश जलना पड़ा हो,
नींद मे, मानो, किसी मरुदेश मे चलना पड़ा हो।

फिर क्षुधित कोई अतिथि आवाज़ देता,
फिर अधर-पुट खोजने लगते अधर को,
कामना छू कर त्वचा को फिर जगाती है,
रेंगने लगते सहस्रों साँप सोने के रुधिर मे,
चेतना रस की लहर में डूब जाती है।

और तब सहसा
न जाने, ध्यान खो जाता कहाँ पर।
सत्य ही, रहता नही यह ज्ञान,
तुम कविता, कुसुम या कामिनी हो।
आरती की ज्योति को भुज मे समेटे
मैं तुम्हारी ओर अपलक देखता एकान्त मन से
रूप के उद्गम अगम का भेद गुनता हूँ।
साँस में सौरभ, तुम्हारे वर्ण मे गायन भरा है,
सींचता हूँ प्राण को इस गन्ध की भीनी लहर से,
और अगों की विभा की वीचियों से एक हो कर
मै तुम्हारे रंग का सगीत सुनता हूँ।

और फिर यह सोचने लगता, कहाँ, किस लोक में हूँ ?
कौन है यह वन सघन हरियालियों का,
झूमते फूलों, लचकती डालियों का ?
कौन है यह देश जिसकी स्वामिनी मुझ को निरन्तर
वारुणी की धार से नहला रही है ?
कौन है यह जग, समेटे अक मे ज्वालामुखी को
चाँदनी चुमकार कर बहला रही है ?

कौमुदी के इस सुनहरे जाल का बल तोलता हूँ,
एक पल उड्डीन होने के लिए पर खोलता हूँ।

पर, प्रभंजन मत्त है इस भाँति रस-आमोद मे,
उड़ न सकता, लौट गिरता है कुसुम की गोद मे।

टूटता तोडे नही यह किसलयों का दाम,
फूलों की लडी जो बँध गयी, खुलती नही है।

कामनाओं के झकोरे रोकते है राह मेरी,
खीच लेती है तृषा पीछे पकड़ कर बाँह मेरी।

सिंधु-सा उद्दाम, अपरंपार मेरा बल कहाँ है?
गूंजता जिस शक्ति का सर्वत्र जयजयकार,
उस अटल संकल्प का सबल कहाँ है?

यह शिला-सा वक्ष, ये चट्टान-सी मेरी भुजाएँ,
सूर्य के आलोक से दीपित, समुन्नत भाल,
मेरे प्राण का सागर अगम, उत्ताल, उच्छल है।

सामने टिकते नही वनराज, पर्वत डोलते है,
काँपता है कुडली मारे समय का व्याल,
मेरी बाँह मे मारुत, गरुड, गजराज का बल है।

मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूँ मै,
उर्वशी! अपने समय का सूर्य हूँ मै।
अंध तम के भाल पर पावक जलाता हूँ,
बादलो के सीस पर स्यन्दन चलाता हूँ।

पर, न जाने, बात क्या है!
इन्द्र का आयुध पुरुष जो झेल सकता है,

सिह से बाँहें मिला कर खेल सकता है,
फूल के आगे वही असहाय हो जाता,
शक्ति के रहते हुए निरुपाय हो जाता।

विद्ध हो जाता सहज बकिम नयन के वाण से,
जीत लेती रूपसी नारी उसे मुसकान से।

मै तुम्हारे वाण का बीधा हुआ खग,
वक्ष पर धर सीस मरना चाहता हूँ।
मै तुम्हारे हाथ का लीला-कमल हूँ,
प्राण के सर मे उतरना चाहता हूँ।

कौन कहता है,
तुम्हें मै छोड कर आकाश में विचरण करूँगा?

बाहुओं के इस वलय में गात्र ही वन्दी नही है,
वक्ष के इस तल्प पर सोती न केवल देह,
मेरे व्यग्र, व्याकुल प्राण भी विश्राम पाते है।

मर्त्य नर को देवता कहना मृपा है,
देवता शीतल, मनुज अगार है।
देवताओं की नदी मे ताप की लहरे न उठती,
किन्तु, नर के रक्त मे ज्वालामुखी हुकारता है,
धूर्णियाँ चिनगारियों की नाचती है,
नाचते उड कर दहन के खंड पत्तों-से हवा में,
मानवों का मन गले-पिघले अनल की धार है।

चाहिए देवत्व,
पर, इस आग को धर दूँ कहाँ पर?
कामनाओं को विसर्जित व्योम मे कर दूँ कहाँ पर?

वह्नि का बेचैन यह रसकोष, बोलो, कौन लेगा ?
आग के बदले मुझे सतोष, बोलो, कौन देगा ?

फिर दिशाएँ मौन, फिर उत्तर नही है।

प्राण की चिर-सगिनी यह वह्नि,
इसको साथ लेकर
भूमि से आकाश तक चलते रहो।
मर्त्य नर का भाग्य!
जब तक प्रेम की धारा न मिलती,
आप अपनी आग मे जलते रहो।

एक ही आशा, मरुस्थल की तपन मे
ओ सजल कादम्बिनी! सिर पर तुम्हारी छाँह है।
एक ही सुख है, उरस्थल से लगा हूँ,
ग्रीव के नीचे तुम्हारी बाँह है।

इन प्रफुल्लित प्राण-पुष्पो मे मुझे शाश्वत शरण दो,
गन्ध के इस लोक से बाहर न जाना चाहता हूँ।
मै तुम्हारे रक्त के कण मे समा कर
प्रार्थना के गीत गाना चाहता हूँ।

उर्वशी

स्वर्णदी, सत्य ही, वह जिसमे ऊर्मियाँ नही, खर ताप नही;
देवता, शेष जिसके मन मे कामना, द्वन्द्व, परिताप नही।
पर, ओ, जीवन के चटुल वेग! तू होता क्यो इतना कातर?
तू पुरुष तभी तक, गरज रहा जब तक भीतर यह वैश्वानर।

जब तक यह पावक शेष, तभी तक सखा-मित्र त्रिभुवन तेरा,
चलता है भूतल छोड बादलो के ऊपर स्यन्दन तेरा।

जब तक यह पावक शेष, तभी तक सिन्धु समादर करता है,
अपना समस्त मणि-रत्न-कोष चरणों पर लाकर धरता है।
पथ नही रोकते सिह, राह देती है सघन अरण्यानी,
तब तक ही सीस झुकाते है सामने प्राशु पर्वत मानी।
सुरपति तब तक ही सावधान रहते बढ कर अपनाने को,
अप्सरा स्वर्ग से आती है अधरो का चुम्बन पाने को।

जब तक यह पावक शेष, तभी तक भाव द्वन्द्व के जगते है,
बारी-बारी से मही, स्वर्ग, दोनों ही सुन्दर लगते है।
मरघट की आती याद तभी तक फुल्ल प्रसूनों के वन मे,
सूने श्मशान को देख चमेली-जुही फूलती है मन मे।
शय्या की याद तभी तक देवालय मे तुझे सताती है,
औ' शयन-कक्ष मे मूर्त्ति देवता की मन मे फिर जाती है।

किल्विष के मल का लेश नही, यह शिखा शुभ्र पावक केवल,
जो किये जा रहा तुझे दग्ध कर क्षण-क्षण और अधिक उज्ज्वल।
जितना ही यह खर अनल-ज्वार शोणित मे उमह उबलता है,
उतना ही यौवन-अगुरु दीप्त कुछ और धधक कर जलता है।
मै इसी अगुरु की ताप-तप्त, मधुमयी गन्ध पीने आयी,
निर्जीव स्वर्ग को छोड़ भूमि की ज्वाला मे जीने आयी।

बुझ जाय मृत्ति का अनल, स्वर्गपुर का तू इतना ध्यान न कर;
जो तुझे दीप्ति से सजती है, उस ज्वाला का अपमान न कर।
तू नही जानता इसे, वस्तु जो इस ज्वाला मे खिलती है,
सुर क्या, सुरेश के आलिगन मे भी न कभी वह मिलती है।
यह विकल, व्यग्र, विह्वल प्रहर्ष सुर की सुन्दरी कहाँ पाये?
प्रज्वलित रक्त का मधुर स्पर्श नभ की अप्सरी कहाँ पाये?

वे रक्तहीन, शुचि, सौम्य पुष्प अम्बरपुर के शीतल, सुन्दर,
दें उन्हे, किन्तु, क्या दान स्वप्न जिनके लोहित, सतप्त, प्रखर?

यह तो नर ही है, एक साथ जो शीतल और ज्वलित भी है,
मन्दिर मे साधक-व्रती, पुष्प-वन मे कदर्प ललित भी है।
योगी अनन्त, चिन्मय, अरूप को रूपायित करनेवाला,
भोगी ज्वलन्त, रमणी-मुख पर चुबन अधीर धरनेवाला,

मन की असीमता मे निबद्ध नक्षत्र, पिण्ड, ग्रह, दिशाकाश,
तन मे रसस्विनी की धारा, मिट्टी की मृदु, सोंधी सुवास;
मानव मानव ही नही, अमृत-नन्दन यह लेख अमर भी है,
वह एक साथ जल-अनल, मृत्ति-महदम्बर, क्षर-अक्षर भी है।

तू मनुज नही, देवता, कान्ति से मुझे मत्र-मोहित कर ले,
फिर मनुज-रूप धर उठा गाढ़ अपने आलिगन मे भर ले।
मै दो विटपों के वीच मग्न नन्ही लतिका-सी सो जाऊँ,
छोटी तरग-सी टूट उरस्थल के महीध्र पर खो जाऊँ।

आ मेरे प्यारे तृषित! श्रान्त! अन्त:सर मे मज्जित करके,
हर लूंगी मन की तपन चाँदनी, फूलों से सज्जित करके।
रसमयी मेघमाला वन कर मै तुझे घेर छा जाऊँगी,
फूलो की छाँह-तले अपने अधरों की सुधा पिलाऊँगी।

पुरूरवा

तुम मेरे बहुरँगे स्वप्न की मणि-कुट्टिम प्रतिमा हो,
नही मोहती हो केवल तन की प्रसन्न द्युति से ही,
पर, गति की भगिमा-लहर से, स्वर से, किलकिंचित से,
और गूढ दर्शन-चितन से भरी उक्तियों से भी।

किन्तु, अनल की दाहकता यह दर्शन हर सकता है?
हर सकते है इसे मात्र ये दोनो नयन तुम्हारे,
जिनके रुचि, निस्सीम, नील नभ मे प्रवेश करते ही
मन के सारे द्विधा-द्वन्द्व, चिन्ता-भय मिट जाते है।
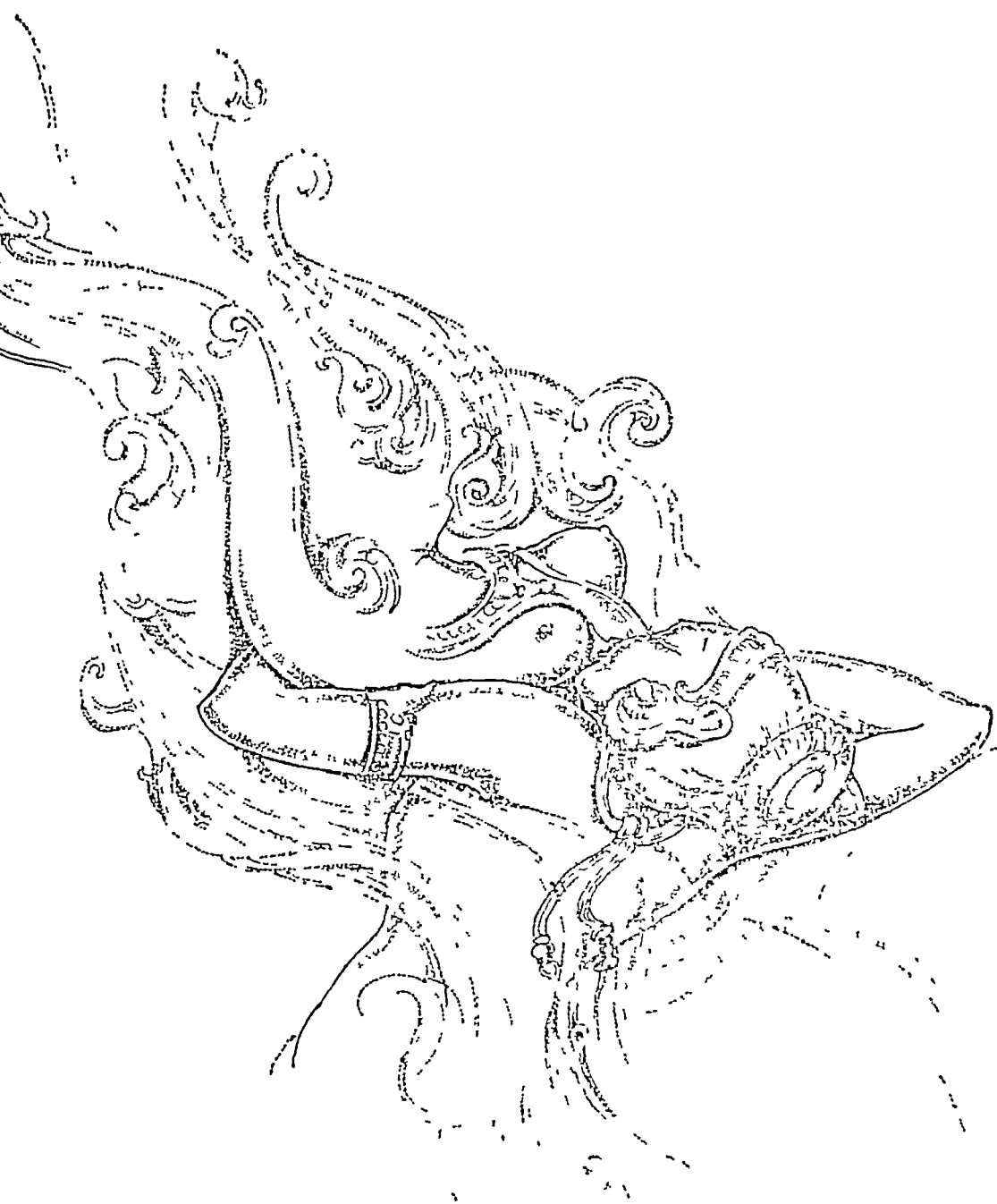
महाशून्य का उत्स हमारे मन का भी उद्गम है,
बहती है चेतना काल के आदि मूल को छू कर।
[पृष्ठ ७०]

या प्रवाल-से अधर दीप्त, जिनका चुम्बन लेते ही
धुल जाती है श्रान्ति, प्राण के पाटल खिल पडते है
और उमड़ आसुरी शक्ति फिर तन मे छा जाती है।

किन्तु, हाय री, लहर वह्नि की, जिसे रक्त कहते है!
किन्तु, हाय री, अविच्छिन्न वेदना पुरुष के मन की!
कर्पूरित, उन्मद, सुरम्य इसके रगीन धुएँ मे
जाने, कितनी पुष्पमुखी आकृतियाँ उतराती है।
रगों की यह घटा। व्यग्र झझा यह मादकता की!
चाहे जितनी उडे बुद्धि, पर, राह नही पाती है।
छिपता भी यदि पुरुष कभी क्षण भर को निभृत निलय मे,
यही वह्नि फिर उसे खीच मधुवन मे ले आती है।

अप्रतिहत यह अनल। दग्ध हो इसकी दाहकता से
कुज-कुज मे जगे हुए कोकिल क्रन्दन करते है।
घूर्णिचक्र, आँसू, पुकार, झझा, प्रवेग, उद्वेलन,
करते रहते सभी रात भर दीर्ण-विदीर्ण तिमिर को,
और प्रात जब महा क्षुब्ध प्लावन पग फैलाता है,
जगती के प्रहरी-सेवित सब बध टूट जाते है।
दुर्निवार यह वह्नि, मुग्ध इसकी लौ के इगित से
उठते है तूफान और ससार मरा करता है।

उर्वशी

रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी,
क्योंकि बुद्धि सोचती और शोणित अनुभव करता है।
निरी बुद्धि की निर्मितियाँ निष्प्राण हुआ करती है;
चित्र और प्रतिमा, इनमे जो जीवन लहराता है,
वह सूझो से नहीं, पत्र-पाषाणों मे आया है,
कलाकार के अन्तर के हिलकोरे हुए रुधिर मे।

क्या विश्वास करे कोई कल्पना-मयी इस धी का?
अमित बार देती यह छलना भेज तीर्थ-पथिकों को
उस मन्दिर की ओर, कही जिसका अस्तित्व नही है।

पर, शोणित दौडता जिधर को, उस अभिप्रेत दिशा मे,
निश्चय ही, कोई प्रसून यौवनोत्फुल्ल सौरभ से
विकल-व्यग्र मधुकर को रस-आमत्रण भेज रहा है।

या वासकसज्जा कोई फूलों के कुज-भवन मे
पथ जोहती हुई, सकेतस्थल सूचित करने को
खड़ी समुत्सुक पद्मरागमणि-नूपुर वजा रही है।

या कोई रूपसी उन्मना वैठी जाग रही है
प्रणय-सेज पर, क्षितिज-पास, विद्रुम की अरुणाई मे
सिर की ओर चद्रमय मगल - निद्राकलश सजा कर।

श्रुतिपुट पर उत्तप्त श्वास का स्पर्श और अधरो पर
रसना की गुदगुदी, अदीपित निश के अँधियाले मे
रस-माती, भटकती उँगलियों का सचरण त्वचा पर,
इस निगूढ कूजन का आशय वुद्धि समझ सकती है?

उसे समझता रक्त, एक कपन जिसमे उठता है,
किसी दूव की फुनगी से औचक छू जाने पर भी।

वुद्धि वहुत करती बखान सागर-तट की सिकता का,
पर, तरग-चुम्वित सैकत मे कितनी कोमलता है,
इसे जानती केवल सिहरित त्वचा नग्न चरणों की।

तुम निरूपते हो विराग जिसकी भीपिका सुना कर,
मेरे लिए सत्य की वाणी वही तप्त शोणित है।

पढो रक्त की भाषा को, विश्वास करो इस लिपि का;
यह भाषा, यह लिपि मानस को कभी न भरमायेगी
छली बुद्धि की भाँति, जिसे सुख-दुख से भरे भुवन मे
पाप दीखता वहाँ जहाँ सुन्दरता हुलस रही है,
और पुण्य-चय वहाँ जहाँ ककाल, कुलिश, काँटे है।

पुरूरवा

द्वन्द्व शूलते जिसे, सत्य ही, वह जन अभी मनुज है,
देवी वह जिसके मन मे कोई सघर्ष नही है।
तब भी, मनुज जन्म से है लोकोत्तर, दिव्य तुम्ही-सा,
मटमैली, खर, चटुल धार निर्मल, प्रशान्त उद्‌गम की।

रक्त बुद्धि से अधिक बली है, अधिक समर्थ, तभी तो
निज उद्‌गम की ओर सहज हम लौट नही पाते है।
पहुँच नही पाते उस अव्यय, एक, पूर्ण सविता तक,
खोये हुए अचेत माधवी किरणों के कलरव मे।

ये किरणे, ये फूल, किन्तु, अन्तिम सोपान नही है
उठना होगा बहुत दूर ऊपर इनके तारों पर,
स्यात्, ऊर्ध्व उस अम्बर तक जिसकी ऊँचाई पर से
यह मृत्तिका-विहार दिव्य किरणों का हीन लगेगा।

दाह मात्र ही नही, प्रेम होता है अमृत-शिखा भी,
नारी जब देखती पुरुष को इच्छा-भरे नयन से,
नही जगाती है केवल उद्वेलन, अनल रुधिर मे,
मन मे किसी कान्त कवि को भी जन्म दिया करती है।

नर समेट रखता बाँहो मे स्थूल देह नारी की,
शोभा की आभा-तरग मे कवि क्रीडा करता है।

तन्मय हो सुनता मनुष्य जब स्वर कोकिल-कंठी का,
कवि हो रहता लीन रूप की उज्ज्वल झंकारों में।

नर चाहता सदेह खींच रख लेना जिसे हृदय में,
कवि नारी के उस स्वरूप का अतिक्रमण करता है।

कवि, प्रेमी एक ही तत्व हैं, तन की सुन्दरता से
दोनों मुग्ध, देह से दोनों बहुत दूर जाते हैं,
उस अनन्त में जो अमूर्त्त धागों से बाँध रहा है
सभी दृश्य सुषमाओं को अविगत, अदृश्य सत्ता से।

देह प्रेम की जन्म-भूमि है, पर, उसके विचरण की
सारी लीला-भूमि नहीं सीमित है रुधिर-त्वचा तक।
यह सीमा प्रसरित है मन के गहन, गुह्य लोकों में,
जहाँ रूप की लिपि अरूप की छवि आँका करती है,
और पुरुष प्रत्यक्ष-विभासित नारी-मुखमंडल में
किसी दिव्य, अव्यक्त कमल को नमस्कार करता है।

जगता प्रेम प्रथम लोचन में, तब तरंग-निभ मन में,
प्रथम दीखती प्रिया एकदेही, फिर व्याप्त भुवन में।
पहले प्रेम स्पर्श होता है, तदनन्तर चिंतन भी,
प्रणय प्रथम मिट्टी कठोर है,-तब वायव्य गगन भी।

मुझ में जिस रहस्य-चिंतक को तुमने जगा दिया है,
उड़ा चाहता है वह भावुक उस निरभ्र अंबर में,
घेर रहा जो तुम्हें चतुर्दिक् अपनी स्निग्ध विभा से,
समा रही जिसमें अलक्ष्य आभा-ऊर्मियाँ तुम्हारी।

वह अंबर जिसके जीवन का पावस उतर चुका है,
चमक रही है धुली हुई जिसमें नीलिमा शरद् की।

वह निरभ्र आकाश, जहाँ, सत्य ही, चंद्रमा-सी तुम
तैर रही हो अपने ही शीतल प्रकाश-प्लावन मे,
किरण रूप से मुझे समाहित किये हुए अपने मे।

वह नभ, जहाँ गूढ छवि पर से अंबर खिसक गया है,
परम कान्ति की आभा में सब विस्मित, चकित खड़े है,
अधर भूल कर तृषा और शोणित निज तीव्र क्षुधा को।

वह निरभ्र आकाश, जहाँ की निर्विकल्प सुषमा मे,
न तो पुरुष मै पुरुष, न तुम नारी केवल नारी हो,
दोनों है प्रतिमान किसी एक ही मूलसत्ता के,
देह-बुद्धि से परे, नही जो नर अथवा नारी है।

ऊपर जो द्युतिमान, मनोमय जीवन झलक रहा है,
उसे प्राप्त हम कर सकते है तन के अतिक्रमण से।

तन का अतिक्रमण, यानी इन दो सुरम्य नयनों के
वातायन से झाँक देखना उस अदृश्य जगती को
जहाँ मृत्ति की सीमा सूनेपन मे विला रही है।

तन का अतिक्रमण, यानी मासल आवरण हटा कर
आँखो से देखना वस्तुओं के वास्तविक हृदय को,
और श्रवण करना कानों से आहट उन भावों की,
जो खुल कर बोलते नही, गोपन इगित करते है।

जो कुछ भी हम जान सके है यहाँ देह या मन मे,
वह स्थिर नही, सभी अटकल-अनुमान-सदृश लगता है।
अत, किसी भी भाँति आप अपनी सीमा लंघित कर
अन्तरस्थ उस दूर देश मे हम सब को जाना है,
जहाँ न उठते प्रश्न, न कोई शंका ही जगती है।

तन्मय हो सुनता मनुष्य जब स्वर कोकिल-कंठी का,
कवि हो रहता लीन रूप की उज्ज्वल झंकारों में।

नर चाहता सदेह खींच रख लेना जिसे हृदय में,
कवि नारी के उस स्वरूप का अतिक्रमण करता है।

कवि, प्रेमी एक ही तत्व हैं, तन की सुन्दरता से
दोनों मुग्ध, देह से दोनों बहुत दूर जाते हैं,
उस अनन्त में जो अमूर्त धागों से बाँध रहा है
सभी दृश्य सुषमाओं को अविगत, अदृश्य सत्ता से।

देह प्रेम की जन्म-भूमि है, पर, उसके विचरण की
सारी लीला-भूमि नहीं सीमित है रुधिर-त्वचा तक।
यह सीमा प्रसरित है मन के गहन, गुह्य लोकों में,
जहाँ रूप की लिपि अरूप की छवि आँका करती है,
और पुरुष प्रत्यक्ष-विभासित नारी-मुखमंडल में
किसी दिव्य, अव्यक्त कमल को नमस्कार करता है।

जगता प्रेम प्रथम लोचन में, तब तरंग-निभ मन में,
प्रथम दीखती प्रिया एकदेही, फिर व्याप्त भुवन में।
पहले प्रेम स्पर्श होता है, तदनन्तर चिंतन भी,
प्रणय प्रथम मिट्टी कठोर है, - तब वायव्य गगन भी।

मुझ में जिस रहस्य-चिंतक को तुमने जगा दिया है,
उड़ा चाहता है वह भावुक उस निरभ्र अंबर में,
घेर रहा जो तुम्हें चतुर्दिक् अपनी स्निग्ध विभा से,
समा रही जिसमें अलक्ष्य आभा-ऊर्मियाँ तुम्हारी।

वह अंबर जिसके जीवन का पावस उतर चुका है,
चमक रही है धुली हुई जिसमें नीलिमा शरद् की।

वह निरभ्र आकाश, जहाँ, सत्य ही, चंद्रमा-सी तुम
तैर रही हो अपने ही शीतल प्रकाश-प्लावन मे,
किरण रूप से मुझे समाहित किये हुए अपने मे।

वह नभ, जहाँ गूढ छवि पर से अंबर खिसक गया है,
परम कान्ति की आभा मे सब विस्मित, चकित खडे है,
अधर भूल कर तृषा और शोणित निज तीव्र क्षुधा को।

वह निरभ्र आकाश, जहाँ की निर्विकल्प सुषमा में,
न तो पुरुष मै पुरुष, न तुम नारी केवल नारी हो;
दोनों है प्रतिमान किसी एक ही मूलसत्ता के,
देह-बुद्धि से परे, नही जो नर अथवा नारी है।

ऊपर जो द्युतिमान, मनोमय जीवन झलक रहा है,
उसे प्राप्त हम कर सकते है तन के अतिक्रमण से।

तन का अतिक्रमण, यानी इन दो सुरम्य नयनों के
वातायन से झाँक देखना उस अदृश्य जगती को
जहाँ सृत्ति की सीमा सूनेपन में विला रही है।

तन का अतिक्रमण, यानी मासल आवरण हटा कर
आँखों से देखना वस्तुओं के वास्तविक हृदय को,
और श्रवण करना कानों से आहट उन भावों की,
जो खुल कर बोलते नही, गोपन इंगित करते है।

जो कुछ भी हम जान सके है यहाँ देह या मन से,
वह स्थिर नही, सभी अटकल-अनुमान-सदृश लगता है।
अत', किसी भी भाँति आप अपनी सीमा लघित कर
अन्तरस्थ उस दूर देश में हम सब को जाना है,
जहाँ न उठते प्रश्न, न कोई शका ही जगती है।

तुम अशेष सुन्दर हो, पर, हो कोर मात्र ही केवल
उस विराट छवि की जो घन के नीचे अभी दबी है।
अतिक्रमण इसलिए कि इन जलदों का पटल हटाकर
देख सकूँ मधुकान्तिमान् सारा सौन्दर्य तुम्हारा।

मध्यान्तर मे देह और आत्मा के जो खाई है,
अनुल्लघ्य वह नही, प्रभा के पुल से सयोजित है।
अतिक्रमण इसलिए, पार कर इस सुवर्ण सेतुक को
उद्भासित हो सके भूतरोत्तर जग की आभा से।

सुने अशब्दित वे विचार, जिनमे सब ज्ञान भरा है,
और चुने गोपन भेदों को जो समाधि-कानन मे
कालद्रुम से कुसुम-सदृश नीरव, अशब्द झरते हैं।

यह अतिक्रान्ति वियोग नही, आलिंगित नर-नारी का,
देह-धर्म से परे अन्तरात्मा तक उठ जाना है।

यह प्रदान उस आत्म-रूप का, जिसे विमुग्ध नयन से
प्रक्षेपित करता है प्रेमी पुरुष प्रिया के मन मे।
मौन ग्रहण यह उन अपार शोभाशाली बिंबों का,
जो नारी से निकल पुरुष के मन मे समा रहे हैं।

यह अतिक्रान्ति वियोग नही, शोणित के तप्त ज्वलन का
परिवर्तन है स्निग्ध, शान्त दीपक की सौम्य शिखा मे।
निन्दा नही, प्रशस्ति प्रेम की, छलना नही, समर्पण,
त्याग नही, सचय, उपत्यकाओं के कुसुम-द्रुमों को
ले जाना है यह समूल नगपति के तुग शिखर पर,
वहाँ जहाँ कैलास - प्रान्त मे शिव प्रत्येक पुरुष है,
और शक्तिदायिनी शिवा प्रत्येक प्रणयिनी नारी।

"पर, कैसा दुःसाध्य पथ! कितना उड्डयन कठिन है!
पहले तो मधु-सिक्त भ्रमर के पंख नही खुलते है,
और खुले भी तो उडान आधी ही रह जाती है,
नीचे उसे खीच लेता है आकर्षण मधुवन का।

देह प्रेम की जन्म-भूमि है, इस शैशवस्थली की
ममता रखती रोक उसे अति दूर देश जाने से।

बाधक है यह प्रेम आप ही अपनी ऊर्ध्व प्रगति का।

उर्वशी

अतिक्रमण सुख की तरग, तन के उद्वेलित मधु का?
तुम तो जगा रहे मुझ मे फिर उसी शीत महिमा को
जिसे टाँग कर पारिजात-द्रुम की अकप टहनी मे
मै चपलोष्ण मानवी-सी भू पर जीने आयी हूँ।

पर, मै बाधक नही, जहाँ भी रहो, भूमि या नभ मे,
वक्षस्थल पर, इसी भाँति, मेरा कपोल रहने दो।
कसे रहो, बस, इसी भाँति, उर-पीड़क आलिगन मे
और जलाते रहो अधर-पुट को कठोर चुम्बन से।

किन्तु, आह! यो नही, तनिक तो शिथिल करो बाँहों को,
निष्पेषित मत करो, यदपि, इस मधु निष्पेषण मे भी
मर्मान्तिक है शान्ति और आनन्द एक दारुण है।

तुम पर्वत, मै लता, तुम्हारी बलवत्तर बाँहों मे
विह्वल, रस-आकुलित, क्षाम मै मूर्च्छित हो जाऊँगी।

ना, यो नही, अरे, देखो तो उधर, बडा कौतुक है,
नगपति के उत्तुग, समुज्ज्वल, हिम-भूषित शृगो पर
कौन नयी उज्ज्वलता की तूली-सी फेर रहा है?

कुछ वृक्षों के हरित मौलि पर, कुछ पत्तों से छन कर
छाँह देख नीचे मृगाक की किरणे लेट गयी है
ओढे धूप - छाँह की जाली अपनी ही निर्मिति की।
लगता है, निष्कंप, मौन सारे वन-वृक्ष खड़े हो
पीताम्बर - उष्णीष बाँध कर छायातप-कुट्टिम पर।

दमक रही कर्पूर-धूलि दिग्वधुओं के आनन पर,
रजनी के अगो पर कोई चन्दन लेप रहा है।
यह अधित्यका दिन मे तो कुछ इतनी बडी नही थी?
अब क्या हुआ कि यह अनन्त सागर-समान लगती है?
कम कर दी दूरता कौमुदी ने भू और गगन की?
उठी हुई-सी मही, व्योम कुछ झुका हुआ लगता है।

रसप्रसन्न मधुकाति चतुर्दिक् ऐसे उमड़ रही है,
मानो, निखिल सृष्टि के प्राणों मे कपन भरने को
एक साथ ही सभी बाण मनसिज ने छोड़ दिये हों।

पुरूरवा

हाँ, समस्त आकाश दीखता भरा शान्त सुषमा से,
चमक रहा चद्रमा शुद्ध, शीतल, निष्पाप हृदय-सा।
विस्मृतियाँ निस्तल समाधि से बाहर निकल रही है,
लगता है, चद्रिका आज सपने मे घूम रही है।
और गगन पर जो असख्य आग्नेय जीव बैठे है,
लगते है धुँधले अरण्य मे हीरों के कूपों-से।
चंद्रभूति-निर्मित हिमकण ये चमक रहे शाद्वल मे?
या नभ के रध्रो मे सित पारावत बैठ गये है?
कल्पद्रुम के कुसुम, या कि ये परियो की आँखे है?

उर्वशी

कल्पद्रुम के कुसुम नही ये, न तो नयन परियों के,
ये जो दीख रहे उजले-उजले-से नील गगन मे,
दीप्तिमान्, सित, शुभ्र श्मश्रुमय देवो के आनन हैं।
शमितवह्नि ये शीत-प्राण पीते सौन्दर्य नयन से,
घ्राण मात्र लेते, न कुसुम का अग कभी छूते हैं।

पर, देखो तो, दिखा-दिखा दर्पण शशाक यह कैसे
सब के मन का भेद गुप्तचर-सा पढता जाता है,
(भेद शैल-द्रुम का, निकुज मे छिपी निर्झरी का भी।)
और सभी कैसे प्रसन्न अभ्यतर खोल रहे हैं,
मानो, चद्र-रूप धर प्राणो का पाहुन आया हो।
ऐसी क्या मोहिनी चद्रमा के कर मे होती है?

पुरूरवा

ऋक्षकल्प झिलमिल भावो का, चद्रलिग स्वप्नों का
दिवस शत्रु, एकान्त यामिनी धात्री है, माता है।
आती जब शर्वरी, पोछती नही विश्व के सिर से
केवल तपन-चिह्न, केवल लाछन सफेद किरणों के;
श्रमहारी, निर्मोघ, शान्तिमय अपने तिमिराचल मे
कोलाहल, कर्कश निनाद को भी समेट लेती है।

तिमिर शान्ति का व्यूह, तिमिर अन्तर्मन की आभा है,
दिन मे अन्तरस्थ भावो के बीज बिखर जाते हैं;
पर, हम चुन कर उन्हे समजस करते पुन निशा मे
जब आता है अन्धकार, धरणी अशब्द होती है।

जो सपने दिन के प्रकाश मे धूमिल हो जाते हैं
या अदृश्य अपने सोदर, सकोचशील उडुओ—से,

वही रात आने पर कैसे हमे घेर लेते है
ज्योतिर्मय, जाज्वल्यमान् आलोक-शिखाएँ बन कर!

निशा योग-जागृति का क्षण है और उदग्र प्रणय की
ऐकायनिक समाधि, काल के इसी गरुत के नीचे
भूमा के रस-पथिक समय का अतिक्रमण करते है,
योगी बँधे अपार योग में, प्रणयी आलिंगन मे।

समतामयी उदार शीतलाचल जब फैलाती है,
जाते भूल नृपति मुकुटों को, बन्दी निज कड़ियो को,
जग भर की चेतना एक होकर अशब्द बहती है
किसी अनिर्वचनीय, सुखद माया के महावरण मे।

सम्राज्ञी विभ्राट, कभी जाते इसको देखा है
समारोह-प्रांगण में पहने हुए दुकूल तिमिर का
नक्षत्रों से खचित, कूल - कीलित झालरे विभा की,
गूंथे हुए चिकुर मे सुरभित दाम श्वेत फूलो के?

और सुना है वह अस्फुट मर्मर कौशेय वसन का,
जो उठता मणिमय अलिन्द या नभ के प्राचीरों पर
मुक्ता-भर, लवित दुकूल के मन्द-मन्द घर्षण से,
राज्ञी जब गर्वित गति से ज्योतिर्विहार करती है?

निशा शान्ति का क्रोड, किन्तु, इस सुरभित स्फटिक-भवन मे,
तब भी, कोई गीत ज्योति से मिला हुआ चलता है।
यह क्या है? कौमुदी या कि तारे गुनगुन गाते है?
दृश्य श्रव्य बन कर अथवा श्रुतियो मे समा रहा है?
बजती है रागिनी सुप्त सुन्दरता की साँसों की?
या अपूर्व कविता चिर-विस्मृत किसी पुरातन कवि की
गूंज रही निस्तब्ध निशा मे निकल काल-गह्वर से?

यह अगाध सुषमा, अनन्तता की प्रशान्त धारा मे,
लगता है, निश्चेत कही हम बहे चले जाते है।

उर्वशी

अतल, अनादि, अनन्त, पूर्ण, बृहित, अपार अम्बर में
सीमा खीचे कहाँ? निमिष, पल, दिवस, मास, सवत्सर
महाकाश मे टँगे काल के लक्तक-से लगते है।
प्रिय! उस पत्रक को समेट लो जिसमे समय सनातन
क्षण, मुहूर्त, सवत, शताब्दि की बूंदो मे अकित है।
बहने दो निश्चेत शान्ति की इस अकूल धारा मे,
देश-काल से परे, छूट कर अपने भी हाथों से।
किस समाधि का शिखर चेतना जिस पर ठहर गयी है?
उडता हुआ विशिख अम्बर मे स्थिर-समान लगता है।

पुरूरवा

रुको समय-सरिते! पल! अनुपल! काल-शकल! घटिकाओ!
इस प्रकार, आतुर उड़ान भर कहाँ तुम्हे जाना है?
कही समापन नही ऊर्ध्व-गामी जीवन की गति का,
काल-पयोनिधि का त्रिकाल मे कोई कूल नही है।
कही कुडली मार बैठ जाओ नक्षत्र-निलय मे,
मत ले जाओ खीच निशा को आज सूर्य-वेदी पर।

रुको, पान करने दो शीतलता शतपत्र कमल की,
एक सघन क्षण मे समेटने दो विस्तार समय का,
एक पुष्प मे भर त्रिकाल की सुरभि सूंघ लेने दो।

मिटा कौन? जो बीत गया, पीछे की ओर खडा है;
जनमा अब तक नही, अभी वह घन के अँधियाले मे
बैठा है सामने छन्न, पर, सब कुछ देख रहा है।

जिस प्रकार, नगराज जानता व्यथा विन्ध्य के उर की,
और हिमालय की गाथा है विदित महासागर को,
वर्त्तमान, त्यों ही, अपने गृह में जो कुछ करता है,
भूत और भवितव्य, उभय उस रचना के साखी हैं।

सिन्धु, विन्ध्य, हिमवान् खडे हैं दिगायाम मे जैसे
एक साथ; त्यो काल-देवता के महान् प्रागण मे
भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान, सब साथ-साथ ठहरे है
बाते करते हुए परस्पर गिरा-मुक्त भाषा मे।

कहाँ देश, हम नही व्योम मे जिसके गूँज रहे हैं?
कौन कल्प, हम नही तैरते हैं जिसके सागर मे?
महाशून्य का उत्स हमारे मन का भी उद्गम है,
बहती है चेतना काल के आदि-मूल को छूकर।

उर्वशी

हम त्रिलोकवासी, त्रिकालचर, एकाकार समय से
भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान, तीनों के एकार्णव मे
तैर रहे संपृक्त सभी वीचियों, कणों, अणुओं से।
समा रही धड़कनें उरों की अप्रतिहत त्रिभुवन में,
काल-रन्ध्र भर रहा हमारी साँसों के सौरभ से।
अन्तर्नभ का यह प्रसार! यह परिधि-भग प्राणों का!
सुख की इस अपार महिमा को कहाँ समेट धरे हम?

पुरूरवा

महाशून्य के अन्तर - गृह मे, उस अद्वैत-भवन मे
जहाँ पहुँच दिक्काल एक है, कोई भेद नही है।
इस निरभ्र नीलान्तरिक्ष की निर्जर मजूषा मे,
सर्ग-प्रलय के पुरावृत्त जिसमे समग्र सचित हैं।

दूरागत इस सतत-सचरण-मय समीर के कर मे,
कथा आदि की जिसे अन्त की श्रुति तक ले जाना है।

इस प्रदीप्त निश के अचल मे जो आप्रलय निरन्तर,
इसी भाँति, सुनती जायेगी कूजन गूढ प्रणय का।

उस अदृश्य के पद पर, जिसकी दयासिक्त, मृदु स्मिति मे,
हम दोनों घूमते और क्रीड़ा-विहार करते हैं।

जिसकी इच्छा का प्रसार भूतल, पाताल, गगन है,
दौड रहे नभ मे अनन्त कन्दुक जिसकी लीला के
अगणित सविता-सोम, अपरिमित ग्रह, उडु-मडल बन कर,
नारी बन जो स्वय पुरुष को उद्वेलित करता है
और वेधता पुरुष-कान्ति बन हृदय-पुष्प नारी का।

निधि मे जल, वन मे हरीतिमा जिसका घनावरण है,
रक्त-मास-विग्रह भगुर ये उसी विभा के पट हैं।

प्रणय-शृग की निश्चेतनता मे अधीर बाँहो के
आलिगन मे देह नही श्लथ, यही विभा बँधती है।
और चूमते हम अचेत हो जब असज्ञ अधरों को,
वह चुम्बन अदृश्य के चरणो पर भी चढ़ जाता है।

देह मृत्ति, दैहिक प्रकाश की किरणे मृत्ति नही है,
अधर नष्ट होते, मिटती झकार नही चुम्बन की,
यह अरूप आभा-तरग अर्पित उसके चरणो पर,
निराकार जो जाग रहा है सारे आकारो मे।
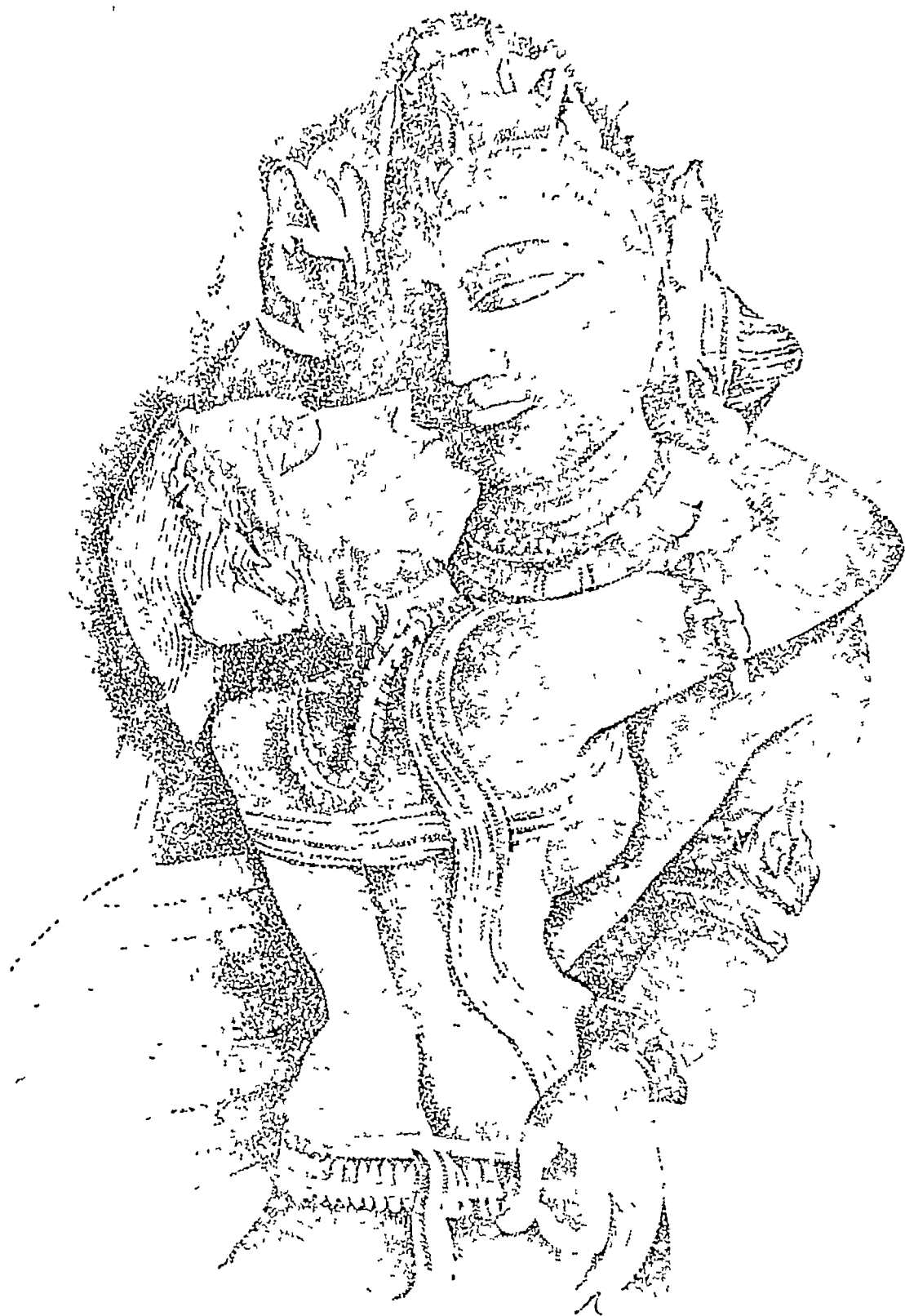
रोम-रोम में वृक्ष, तरगित, फेनिल हरियाली पर
चढ़ी हुई आकाश-ओर मैं कहाँ उड़ी जाती हूँ?
[पृष्ठ ७३]

अङ्क

उर्वशी

रोम-रोम मे वृक्ष, तरगित, फेनिल हरियाली पर
चढी हुई आकाश-ओर मै कहाँ उडी जाती हूँ?

पुरूरवा

देह डूबने चली अतल मन के अकूल सागर मे,
किरणे फेक अरूप रूप को ऊपर खीच रहा है।

उर्वशी

करते नही स्पर्श क्यों पगतल मृत्ति और प्रस्तर का?
सघन, उष्ण वह वायु कहाँ है? हम इस समय कहाँ है?

पुरूरवा

छूट गयी धरती नीचे, आभा की झकारों पर
चढे हुए हम देह छोड कर मन मे पहुँच रहे है।

उर्वशी

फूलो का सपूर्ण भुवन सिर पर, इस तरह, उठाये
यह पर्वत का शृग मुदित हम को क्यो हेर रहा है?

पुरूरवा

अयुत युगो से ये प्रसून यो ही खिलते आये है,
नित्य जोहते पन्थ हमारे इसी महान् मिलन का।

जब भी तन की परिधि पार कर मन के उच्च निलय मे
नर-नारी मिलते समाधि-सुख के निश्चेत शिखर पर
तब प्रहर्ष की अति से यो ही प्रकृति काँप उठती है,
और फूल यो ही प्रसन्न होकर हँसने लगते है।

उर्वशी

जला जा रहा अर्थ सत्य का सपनों की ज्वाला मे,
निराकार मे आकारों की पृथ्वी डूब रही है।
यह कैसी माधुरी ? कौन स्वर लय मे गूंज रहा है
त्वचा-जाल पर, रक्त-शिराओं मे, अकूल अन्तर मे ?
ये ऊर्मियाँ ! अशब्द नाद ! उफ री बेबसी गिरा की !
दोगे कोई शब्द ? कहूँ क्या कह कर इस महिमा को ?

पुरूरवा

शब्द नही है; यह गूंगे का स्वाद, अगोचर सुख है;
प्रणय-प्रज्वलित उर मे जितनी झंकृतियाँ उठती है,
कह कर भी उनको कह पाते कहाँ सिद्ध प्रेमी भी ?
भाषा रूपाश्रित, अरूप है यह तरंग प्राणों की।

उर्वशी

कौन पुरुष तुम ?

पुरूरवा

जो अनेक कल्पों के अँधियाले मे
तुम्हें खोजता फिरा तैर कर बारबार मरण को
जन्मों के अनेक कुजों, वीथियों, प्रार्थनाओं मे,
पर, तुम मिली एक दिन सहसा जिसे शुभ्र मेघों पर
एक पुष्प मे अमित युगों के स्वप्नों की आभा-सी।

उर्वशी

और कौन मै ?

पुरूरवा

ठीक-ठीक यह नही बता सकता हूँ।
इतना ही है ज्ञात, तुम्हारे आते ही अन्तर का
द्वार स्वय खुल गया और प्राणों का निभृत निकेतन,
अकस्मात्, भर गया स्वरित रगों के कोलाहल से।
जब से तुम आयी, पृथ्वी कुछ अधिक मुदित लगती है;
शैल समझते है, उनके प्राणों मे जो धारा है,
बहती है पहले से वह कुछ अधिक रसवती होकर।
जब से तुम आयी, धरती पर फूल अधिक खिलते है,
दौड़ रही कुछ नयी दीप्ति-सी शीतल हरियाली मे।
सब है सुखी, एक नक्षत्रों को ऐसा लगता है,
जैसे कोई वस्तु हाथ से उनके निकल गयी हो।

उर्वशी

और मिले जब प्रथम-प्रथम तुम, विद्युत् चमक उठी थी
इन्द्रधनुष बन कर भविष्य के नीले अँधियाले पर।
तुम मेरे प्राणेश, ज्ञान-गुरु, सखा, मित्र, सहचर हो;
जहाँ कही भी प्रणय सुप्त था शोणित के कण-कण मे,
तुम ने उसको छेड मुझे मूर्च्छा से जगा दिया है।

प्राणो मे शीतल शुचिता सद्य प्रस्फुटित कमल की;
लगता है, ऋजु प्रभा हृदय में पुन. लौट आयी है।
भरी चुम्बनों की फुहार, कपित प्रमोद की अति से
जाग उठी हूँ मै निद्रा से जगी हुई लतिका-सी।

प्रथम-प्रथम ही सुना नाद उद्गम पर बजते जल का,
प्रथम-प्रथम ही आदि उषा की द्युति मे भीग रही हूँ।

तन की शिरा-शिरा में जो रागिनियाँ बन्द पड़ी थीं,
कौन तुम्हारे बिना उन्हें उन्मोचित कर सकता था ?
कौन तुम्हारे बिना दिलाता यह विश्वास हृदय को,
अन्तरिक्ष यह स्वयं भूमि है किसी अन्य जगती की,
सम्मुख जो झूमते वृक्ष, वे वृक्ष नहीं, बादल हैं ?

यह ज्योतिर्मय रूप ? प्रकृति ने किसी कनक-पर्वत से
काट पुरुष-प्रतिमा विराट निज मन के आकारों की,
महाप्राण से भर उसको, फिर भू पर गिरा दिया है,
स्यात्, स्वर्ग की सुन्दरियों, परियों को ललचाने को,
स्यात्, दिखाने को, धरती जब महावीर जनती है,
असुरों से वह बली, सुरों से भी मनोज्ञ होता है।

उफ री यह माधुरी ! और ये अधर विकच फूलों-से !
ये नवीन पाटल के दल आनन पर जब फिरते हैं,
रोम-कूप, जाने, भर जाते किन पीयूष-कणों से !
और सिमटते ही कठोर बाँहों के आलिंगन में,
चटुल एक पर एक उष्ण ऊर्मियाँ तुम्हारे तन की
मुझ में कर संक्रमण प्राण उन्मत्त बना देती हैं।
कुसुमायित पर्वत-समान तब लगी तुम्हारे तन से
मैं पुलकित-विह्वल, प्रसन्न-मूर्च्छित होने लगती हूँ।
कितना है आनन्द फेंक देने में स्वयं स्वयं को
पर्वत की आसुरी शक्ति के आकुल आलोडन में ?

पुरूरवा

हाय, तृषा फिर वही तरंगों में गाहन करने की !
वही लोभ चेतना-सिन्धु के अपर पार जाने का
झम्प मार तन की प्रतप्त, उफनाती हुई लहर में ?
ठहर सकेगा कभी नहीं क्या प्रणय शून्य अम्बर पर ?

विविध सुरो मे छेड तुम्हारी तंत्री के तारों को,
बिठा-बिठा कर विविध भाँति रगो मे, रेखाओं मे,
कभी उष्ण उर-कप, कभी मानस के शीत मुकुर मे,
बहुत पढा मैंने अनेक लोको मे तुम्हें जगा कर।
पर, इन सब से खुली पूर्ण तुम? या जो देख रहा हूँ,
मायाविनि! वह बन्द मुकुल है, महासिन्धु का तट है?

कहाँ उच्च वह शिखर, काल का जिस पर अभी विलय था?
और कहाँ यह तृषा ग्राम्य नीचे आकर बहने की
पर्वत की आसुरी शक्ति के आकुल आलोडन मे?

भ्रान्त स्वय या जान-बूझ कर मुझ को भ्रमा रही हो?

उर्वशी

भ्रान्ति नही, अनुभूति, जिसे ईश्वर हम सब कहते है,
शत्रु प्रकृति का नही, न उसका प्रतियोगी, प्रतिवल है।
किसने कहा तुम्हे, परमेश्वर और प्रकृति, ये दोनो
साथ नही रहते, जिसको भी ईश्वर तक जाना है,
उसे तोड लेने होगे सारे सम्बन्ध प्रकृति से,
और प्रकृति के रस मे जिसका अन्तर रमा हुआ है,
उमे और जो मिले, किन्तु, परमेश्वर नही मिलेगा?

किसने कहा तुम्हे, जो नारी नर को जान चुकी है,
उसके लिए अलभ्य ज्ञान हो गया परम सत्ता का,
और पुरुप जो आलिगन मे बाँध चुका रमणी को,
देश-काल को भेद गगन मे उठने योग्य नही है?

ईश्वरीय जग भिन्न नही है इस गोचर जगती से;
इसी अपावन मे अदृश्य वह पावन सना हुआ है।

माया कह क्यों मृषा मेटते हो अस्तित्व प्रकृति का?
ये नदियाँ, ये फूल, वृक्ष ये और स्वयं हम-तुम भी
शून्य मंच पर सत्वशील, जीवित, साकार खड़े हैं।
और यहाँ जो कुछ करते हैं उसकी गंध हवा में
उड़ते-उड़ते दूर जन्म-जन्मान्तर तक जाती है।

शिखरों में जो मौन, वही झरनों में गरज रहा है,
ऊपर जिसकी ज्योति, छिपा है वही गर्त के तम में।
तब किस भय से भाग रहे नीचे की तिमिरपुरी से?
शिखरों पर का कौन लोभ ऊपर को खींच रहा है?
अंधा हो जाता मनुष्य रवि की भी प्रखर प्रभा से
और किसी को अँधियाले में भी सब कुछ दिखता है।

मुक्ति खोजते हो? पर, यह तो कहो कि किस बंधन से?
ये प्रसून, यह पवन बन्ध है? या मैं बाँध रही हूँ?
अच्छा, खुल जाओ प्रसून से, पवन और मुझ से भी;
अब बोलो, मन पर तो बाकी कोई बन्ध नहीं है?
बन्ध नियम, संयम, निग्रह, शास्त्रों की आज्ञाओं का?

मोह मात्र ही नहीं, सभी ऐसे विचार बन्धन हैं
जो सिखलाते हैं मनुष्य को, प्रकृति और परमेश्वर
दो हैं; जो भी प्रकृत हुआ, वह दूर हुआ ईश्वर से,
ईश्वर का जो हुआ, उसे फिर प्रकृति नहीं पायेगी।

प्रकृति नहीं माया, माया है नाम भ्रमित उस धी का,
बीचोंबीच सर्प-सी जिसकी जिह्वा फटी हुई है,
एक जीभ से जो कहती कुछ सुख अर्जित करने को,
और दूसरी से बाकी का वर्जन सिखलाती है।

मन की कृति यह द्वैत, प्रकृति में, सचमुच, द्वैत नहीं है।
जब तक प्रकृति विभक्त पडी है श्वेत-श्याम खडों मे,
विश्व तभी तक माया का मिथ्या प्रवाह लगता है।
किन्तु, शुभाशुभ भावों से मन के तटस्थ होते ही,
न तो दीखता भेद, न कोई शका ही रहती है।

राग-विराग दुष्ट दोनों, दोनों निसर्ग-द्रोही है।
एक चेतना को अजुष्ट सकोचन सिखलाता है;
और दूसरा प्रिय, अभीष्ट सुख की अभिप्रेत दिशा मे,
कहता है बल-सहित भावना को प्रसरित होने को।
दोनो विषम, शान्ति-समता के दोनों ही बाधक है;
दोनों से निश्चित चेतना को अभग बहने दो।
करने दो सब कृत्य उसे निर्लिप्त सभी से हो कर,
लोभ, भीति, सघर्ष और यम, नियम, सयमो से भी।

हम इच्छुक अकलुष प्रमोद के, पर, वह प्रमुद निरामय
विधि-निषेध-मय संघर्षो, यत्नों से साध्य नही है।
आता है वह अनायास, जैसे फूटा करती है
डाली से टहनियाँ और पत्तियाँ, स्वत:, टहनी से,
या रहस्य-चितक के मन में स्वयं कौंध जाती है
जैसे किरण अदृश्य लोक की, भेद अगम सत्ता का।

यह अकाम आनन्द भाग सतुष्ट-शान्त उस जन का,
जिसके सम्मुख फलासक्तिमय कोई ध्येय नही है,
जो अविरत तन्मय निसर्ग से, एकाकार प्रकृति से,
बहता रहता मुदित, पूर्ण, निष्काम कर्म-धारा मे,
सघर्षो मे निरत, विरत, पर, उनके परिणामों मे,
सदा मानते हुए, यहाँ जो कुछ है, मात्र क्रिया है।

हम निसर्ग के स्वयं कर्म हैं, कर्म स्वभाव हमारा,
कर्म स्वय आनन्द, कर्म ही फल समस्त कर्मों का।

जब हम कुछ भी नही खोजते निज से बाहर जाकर,
तब हम कर्मी नही, कर्म के रूप स्वय होते हैं,
करते हुए व्यक्त आँसू अथवा उल्लास प्रकृति का।

यह अकाम आनन्द भाग उनका, जो नही सुखो को
आमत्रण भेजते, न जग कर पथ जोहा करते हैं,
न तो बुद्धि जिनकी चिताकुल यह सोचा करती है,
कैसे, क्या कुछ कर कि हो सुख पर अधिकार हमारा,
और न तो चेतना आकुलित इस भय से रहती है,
जाने, कौन दुख आ जाये कब, किस वातायन से,
विधि-निषेध से मुक्त, न तो पीडित सचेष्ट वर्जन से,
न तो प्राण को बल-समेत, बरबस, उस ओर लगाये
जिस दिश से जीवन मे सुख-धारा फूटा करती है।
जब इन्द्रियाँ और मन ऐसी सहज, शान्त मुद्रा मे,
वातायन खोले, चिता से रहित पड़े होते हैं,
तभी किरण निष्कलुष मोद की स्वय उतर आती है
रवि की किरणो के समान, अबर से, खुले भवन मे।

विधि-निषध हैं जहाँ, वहाँ पर कर्म अकाम नही है,
विधि-निषेध कुछ नही, नियम है वे अर्जन-वर्जन के।

और जहाँ अर्जन-वर्जन का गणित चला करता है,
कह सकते हो, सजग प्रहरियो की उस बडी सभा मे,
एक जीव भी है, जिसके कर्मों का ध्येय नही है?
फलासक्ति से मुक्त क्रिया मे जो उस भाँति निरत है,
जैसे बहता है समीर सर्वथा मुक्त ध्येयों से,
अथवा जैसे निरुद्देश्य ये फूल खिला करते है?

हो कोई तो कहो, उसे फल का यदि लोभ नही है,
तो फिर चाबुक मार स्वयं को वह क्यों हाँक रहा है?
समर प्रकृति से रोप, इन्द्रियों पर तलवार उठाये
चुका रहा है किस सुख का वह मोल देह-दडन से?
और कौन सुख है जिसके लुट जाने की शका से
सारी रात नीद से लड़ वह आकुल जाग रहा है?

और सुनोगे एक भेद? ये प्रहरी जिन घेरों पर
रात-रात भर धनु का गुण ताने घूमा करते हैं,
उन घेरो मे रक्षणीय कोई भी सार नही है।
कुछ भूखी रिक्तता चेतना की, कुछ फेन हवा के,
कुछ थोडी यह तृपा कि ऐसी कोई युक्ति निकाले,
जिससे मृत्यु-करो मे भी पडने पर नही मरे हम;
किन्तु, अधिक यह भाव, वैर है प्रकृति और ईश्वर मे,
अत, सिद्धि के लिए, प्रकृति से हमें दूर होना है।

मूढ मनुज! यह भी न जानता, तू ही स्वय प्रकृति है?
फिर अपने से आप भाग कर कहाँ त्राण पायेगा?
सब है शून्य, कही कोई निश्चित आकार नही है,
क्षण-क्षण सब कुछ बदल रहा है परिवर्तन के क्रम मे।
धूमयोनि ही नही, ठोस यह पर्वत भी छाया है,
यह भी कभी शून्य अम्बर था, और अचेत अभी भी,
नये-नये आकारो मे क्षण-क्षण यह समा रहा है,
स्यात्, कभी मिल ही जाये, क्या पता, अनन्त गगन मे।

यह परिवर्तन ही विनाश है? तो फिर नश्वरता से
भिन्न मुक्ति कुछ नही। किन्तु, परिवर्तन नाश नही है।
परिवर्तन प्रक्रिया प्रकृति की सहज प्राण-धारा है।

मुक्त वही जो सहज भावना से इसमें बहते हैं,
विधि-निषेध से परे, छूट कर सभी कामनाओं से,
किसी ध्येय के लिए नहीं, केवल बहते रहने को,
क्योंकि और कुछ भी करना संभव या योग्य नहीं है।

जाने, क्यों तैराक चतुर तब भी प्रशान्त धारा में
चला-चला कर हाथ-पाँव विक्षोभ व्यर्थ भरते हैं!
कौन सिद्धि है जो मिलती संतरण-दक्ष साधक को,
और नहीं मिलती अकाम जल में बहनेवाले को?

जिसे खोजता फिरता है तू, वह अरूप, अनिकेतन
किसी व्योम पर कहीं देह धर बैठा नहीं मिलेगा।
वह तो स्वयं रहा बह अपनी ही लीला-धारा में
कर्दम कहीं, कहीं पंकज वन, कहीं स्वच्छ जल बन कर।
उसे देखना हो तो आँखों को पहले समझा दे,
श्वेत-श्याम एक ही रंग की युगपत् सज्ञाएँ हैं।
और उसे छूना हो तो कह दे अपने हाथों से,
भेद उठा दे शूल-फूल का, कमल और कर्दम का।

अर्थ खोजते हो जीवन का? लड़ी कार्य-कारण की
बहुत दूर तक बिछी हुई है पीछे अँधियाले में।
चलो जहाँ तक भी, अतीत-गह्वर में, चरण-चरण पर,
मात्र प्रतीक्षा-निरत प्रश्न मग में मिलते जायेंगे।

और, अन्त में, अनाख्येय जो आदि भित्ति आती है,
परे झाँकने को भी उसमें कहीं गवाक्ष नहीं है।

वर्त्तमान की कुछ मत पूछो, एक बूँद वह जल है,
अभी हाथ आया, तुरत फिर अभी बिखर जायेगा।
पढ़ा जाय क्या अर्थ काल के इस उड़ते अक्षर का?

और भविष्यत् के वन मे ऐसा घनघोर तिमिर है,
नही सूझता पथ बुद्धि के दीपो की आभा मे।
हार मान प्रज्ञा अपना सिर थाम बैठ जाती है।

वृथा यत्न इस अतल शून्य का तलस्पर्श करने का,
वृथा यत्न पढने का कोई भेद उत्स पर जा कर।
कही न कोई द्वार, न तो वातायन कही खुले है,
हम है जहाँ, वहाँ जाने की कोई राह नही है।

किन्तु, अर्थ को छोड जभी शब्दो की ओर मुडोगे,
अकस्मात्, यह शून्य ठोस रूपो से भर जायेगा।
देखोगे, सुनसान नही, यह तो पूरी वसती है
नक्षत्रो की, नील गगन की, शैलों, सरिताओं की,
लता-पत्र की, हरियाली की, ऊषा की लाली की।
सभी पूर्ण, सब सुखासीन, सब के सब लीन क्रिया मे,
पूछे किससे, कौन, कहाँ से सृष्टि निकल आयी है?

अच्छा है, ये पेड, पुष्प इसके जिज्ञासु नही है,
हम है कौन, कहाँ से आये, और कहाँ जायेगे?

'सच मे, यह प्रत्यक्ष जगत् कुछ उतना कठिन नही है,
जितना हो जाता दुरूह मन के भीतर जाने पर।
वैचारिक जितना विषण्ण रहता दुरूहताओं से,
उतना खिन्न नही रहता है सहज मनुष्य प्रकृति का।

द्वन्द्व रच भर नही कही भी प्रकृति और ईश्वर मे,
द्वन्द्वो का आभास द्वैतमय मानस की रचना है।
यह आभास नही टिकता, जब मनुज जान लेता है
अप्रयास अनुभवन प्रकृति का, सहज रीति जीवन की,
क्योकि प्रकृति औ पुरुष एक है, कोई भेद नही है।

जो भी है अवसर निसर्ग के, ईश्वर के भी क्षण है;
धर्म-साधना कही प्रकृति से भिन्न नही चलती है।
दृश्य, अदृश्य एक है दोनो, प्रकृति और ईश्वर में
भेद गुणों का नही, भेद है मात्र दृष्टि का, मन का।

और यहाँ यह काम-धर्म ही उज्ज्वल उदाहरण है।

काम धर्म, काम ही पाप है, काम किसी मानव को
उच्च लोक से गिरा हीन पशु-जन्तु बना देता है।
और किसी मन मे असीम सुषमा की तृषा जगा कर
पहुँचा देता उसे किरण-सेवित अति उच्च शिखर पर।

यह विरोध क्या है? कैसे दो फल एक ही क्रिया के
एक अपर से, इस प्रकार, प्रतिकूल हुआ करते है?
सोचा है, यह प्रेम कही क्यों दानव बन जाता है,
और कही क्यों जाकर मिल जाता रहस्य-चिन्तन से?

काम नही, इस वैपरीत्य का भी मन ही कारण है।
मन जब हो आसक्त काम से लभ्य अनेक सुखों पर,
चिन्तन में भी उन्ही सुखो की स्मृति ढोये फिरता है,
विकल, व्यग्र, फिर-फिर, मधु-सर मे अवगाहन करने को
स्नेहाकृष्ट नही, तो यत्नो से, छल से, बल से भी,
तभी काम से बलात्कार के पाप जन्म लेते है,
तभी काम दुर्द्धर्ष, दानवी किल्विप बन जाता है।
काम - कृत्य वे सभी दुष्ट है, जिनके सपादन मे
मन-आत्माएँ नही, मात्र दो वपुस् मिला करते है;
या तन जहाँ विरुद्ध प्रकृति के विवश किया जाता है
सुख पाने को, क्षुधा नही, केवल मन की लिप्सा से;

अङ्क

जहाँ नही मिलते नर-नारी उस सहजाकर्पण से
जैसे दो वीचियाँ अनामन्त्रित आ मिल जाती है,
पर, सुवर्ण की लोलुपता मे छिपे-छिपे तस्कर-से
एक दूसरे का आकुल सधान किया करते है।

तन का क्या अपराध? यत्र वह तो सुकुमार प्रकृति का,
सीमित उसकी शक्ति और सीमित आवश्यकता है।
यह तो मन ही है, निवास जिसमे समस्त विपदों का,
वही व्यग्र, व्याकुल असीम अपनी काल्पनिक क्षुधा से
हाँक-हाँक तन को उस जल को मलिन बना देता है,
विम्बित होती किरण अगोचर की जिस स्वच्छ सलिल मे,
जिस पवित्र जल मे समाधि के सहस्रार खिलते हैं।

तन का काम अमृत, लेकिन, यह मन का काम गरल है।

फलासक्ति दूषित कर देती ज्यों समस्त कर्मो को,
उसी भाँति, वह काम-कृत्य भी दूषित और मलिन है,
स्वत स्फूर्त जो नही, ध्येय जिसका मानसिक क्षुधा का
सप्रयास है शमन, जहाँ पर सुख खोजा जाता है
तन की प्रकृति नही, मन की माया से प्रेरित होकर,
जहाँ जाग कर स्वय नही वहती चेतना उरो की,
मन की लिप्सा के अधीन उसको जगना पडता है,
या जव रसावेश की स्थिति मे, किसी भाँति, जाने को
मन शरीर के यत्रो को, वरवस, चालित करता है।

किन्तु, कभी क्या रसावेश मे कोई जा सकता है,
विना सहज एकाग्र वृत्ति के, मात्र हाँक कर तन को?
मास-पेशियाँ नही जानती आनन्दों के रस को,
उसे जानती स्नायु, भोगता उसे हमारा मन है।

इसीलिए, निष्काम काम-सुख वह स्वर्गीय पुलक है,
सपने मे भी नही स्वल्प जिस पर अधिकार किसी का।
नही साध्य वह तन के आस्फालन या सकोचन से,
वह तो आता अनायास, जैसे बूंदे स्वाती की
आ गिरती है, अकस्मात्, सीपी के खुले हृदय मे।

लिया-दिया वह नही, मात्र वह ग्रहण किया जाता है।

और पुत्र-कामना कहो तो, यद्यपि, वह सुखकर है,
पर, निष्काम काम का, सचमुच वह भी ध्येय नही है।
निरुद्देश्य, निष्काम काम-सुख की अचेत धारा मे,
सताने अज्ञात लोक से आकर खिल जाती है
वारि-वल्लरी मे फूलो-सी, निराकार के गृह से
स्वयं निकल पडनेवाली जीवन की प्रतिमाओं सी।

प्रकृति नित्य आनन्दमयी है, जब भी भूल स्वय को
हम निसर्ग के किसी रूप (नारी, नर या फूलो) से
एकतान होकर खो जाते है समाधि निस्तल मे,
खुल जाता है कमल, धार मधु की बहने लगती है,
दैहिक जग को छोड कही हम और पहुँच जाते है,
मानो, मायावरण एक क्षण मन से उतर गया हो।

क्या प्रतीक यह नही, काम-सुख गर्हित, ग्राम्य नही है?
वह भी ले जाता मनुष्य को ऊपर मुक्ति-दिशा मे
मन के माया-मोह-बन्ध को छुडा सहज पद्धति से।

पर, खोजे क्यो मुक्ति? प्रकृति के हम प्रसन्न अवयव है,
जब तक शेष प्रकृति, तब तक हम भी बहते जायेगे
लीलामय की सहज, शान्त, आनन्दमयी धारा मे।

पुरूरवा

कुसुम और कामिनी, बहुत सुन्दर दोनों होते है,
पर, तब भी नारियाँ श्रेष्ठ है कही कान्त कुसुमों से,
क्योकि पुष्प है मूक और रूपसी बोल सकती है।
सुमन मूक सौन्दर्य और नारियाँ सवाक् सुमन है।

किन्तु, कही यदि शब्द फूटने लगे सुमुख पुष्पों से,
और लगे करने प्रसून ये गहन-गूढ चिन्तन भी,
सब की वही दशा होगी, जो मेरी अभी हुई है।

यह प्रपात रसमयी बुद्धि का! यह हिलोर चितन की!
तुम्हे ज्ञात है, मै बहते-बहते इसकी धारा मे
किन लोकों, किन गुह्य नभो मे अभी घूम आया हूँ?

आदि-अत कुछ नही सूझता, सचमुच ही, जीवन का,
ग्रन्थि-जाल का किसी काल-गह्वर मे छोर नही है।

विधि-निषेध, सत्य ही स्यात्, जल पर की रेखाएँ है,
कोई लेख नही उगता भीतर के अगम सलिल पर।
कोई लेख नही उगता भीतर के अगम सलिल पर।
और ज्वार जो भी उठता ऊपर अवचेत-अतल से,
विधि-निपेध का उस पर कोई जोर नही चलता है।

स्यात्, योग सायास उपेक्षा भर है इस स्वीकृति की,
हम निसर्ग के बन्द कपाटों को न खोल सकते है,
स्यात्, साधनाएँ प्रयास है थकी हुई प्रज्ञा को
अन्वेपण मे, किसी भाँति भी, निरत किये रहने का।

सत्य, स्यात्, केवल आत्मार्पण, केवल शरणागति है
उसके पद पर, जिसे प्रकृति तुम, मै ईश्वर कहता हूँ।
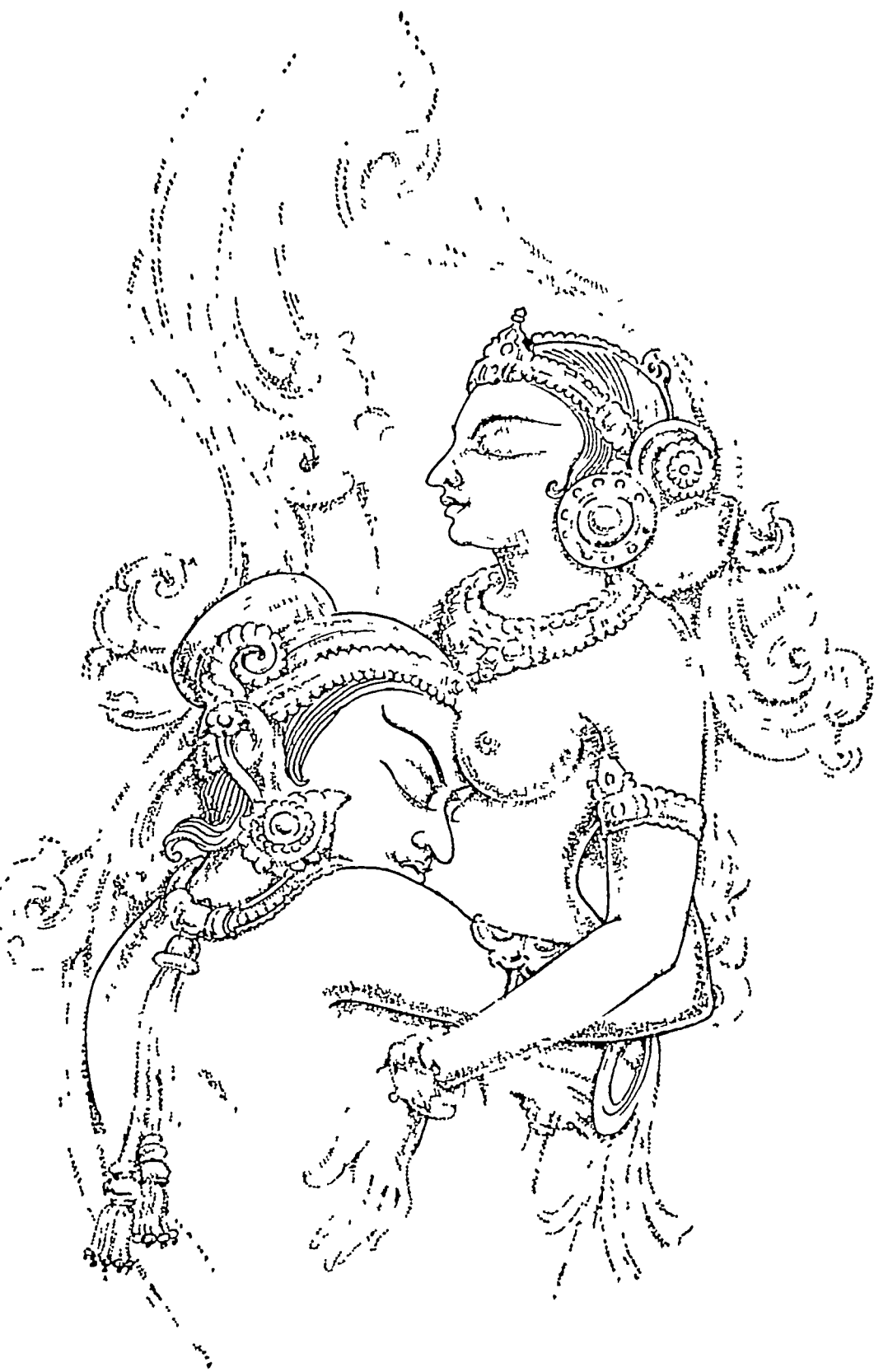
और वक्ष के कुसुम-कुंज, सुरभित विश्राम-भवन ये,
जहाँ मृत्यु के पथिक ठहर कर श्रान्ति दूर करते हैं।
[पृष्ठ ६१]

एक कर्म, अनुगमन मूक अविगत के सकेतों का,
एक धर्म, अनुभवन निरन्तर उस सुषमा, उस छवि का
जो विकीर्ण सर्वत्र, केन्द्र वन तुम मे झलक रही है।

आह, रूप यह! उड़ूँ जहाँ भी, चारों ओर भुवन मे
यही रूप हँसता, प्रसन्न इगित करता मिलता है
सूर्य-चद्र मे, नक्षत्रो-फूलो मे, तृणों-द्रुमो मे।
और यही मुख वार-बार उग पुन डूब जाता है
मन के अमित अगाध सिन्धु मे ज्वालामयी लहर-सा।
लगता है, मानो, निकली तुम वाहर नही जलधि से,
जन्मभूमि की शीतलता मे अब भी खेल रही हो।

देखा तुम्हे वहुत, पर, अव भी तो यह ज्ञात नही है,
प्रथम-प्रथम तुम खिली चीर टहनी किस कल्पलता की?
लिया कहाँ आकार निकल कर निराकार के गृह से?
उषा-सदृश प्रकटी थी किन जलदों का पटल हटा कर?

कहते है, मै स्वय विश्व मे आया विना पिता के,
तो क्या तुम भी, उसी भाँति, सचमुच, उत्पन्न हुई थी
माता विना, मात्र नारायण ऋषि की कामेच्छा से,
तप पूत नर के समस्त सचित तप की आभा-सी?

या समुद्र जव अन्तरग्नि से आकुल, तप्त, विकल था,
तुम प्रसून-सी स्वय फूट निकली उस व्याकुलता से,
ज्यो अम्वुधि की अन्तरग्नि से अन्य रत्न वनते है?
और सुरासुर के अभग, युग-व्यापी आह्वानो से
दया-द्रवित हो, एक प्रान, निकली अप्रतिम शिखा-सी
अतल, वितल, पाताल, तलातल से ऊपर भूतल मे,
जैसे उषा निकल सागर-तल से ऊपर आती है?

नारायण की महा कल्पना से, एकायन मन से।
[पृष्ठ ६२]

डूब गया होगा सारा आकाश कुतुक-विस्मय मे,
चकित खडे होगे सब जब यह प्रतिमा अरुण प्रभा की
आ कर ठहर गयी होगी कपित, सुनील लहरों पर,
धूम-तरगो पर चढ कर नाचती हुई ज्वाला-सी।

कैसा दीप रहा होगा पावकमय रूप तुम्हारा
नील तरगो मे, झलमल फेनो के शुभ्र वसन मे।
और चतुर्दिक् तुम्हे घेर उद्ग्रीव भुजगिनियो-सी
देख रही होगी काली लहरे किस उत्सुकता से?

रुदन किया होगा कितना अम्बुधि ने तुम्हे गँवा कर!
मणि-मुक्ता-विद्रुम-प्रवाल से विरचे हुए भवन की
आभा उतर गयी होगी, तुम से वियुक्त होते ही
शून्य हो गया होगा सारा हृदय महासागर का।
और प्राप्त कर रक्त-मास-मय इस अप्रतिम कुसुम को
कितना हर्ष-निनाद हुआ होगा देवो के जग मे।

तुम अनन्त सौन्दर्य, एक तन मे बस जाने पर भी,
निखिल सृष्टि मे फैल चतुर्दिक् कैसे व्याप रही हो?
तुम अनन्त कल्पना, अक चाहे जिस भाँति भरूँ मैं,
एक किरण तब भी बाँहो से बाहर रह जाती है।

ये लोचन, जो किसी अन्य जग के नभ के दर्पण है,
ये कपोल, जिनकी द्युति मे तैरती किरण ऊषा की,
ये किसलय-से अधर, नाचता जिन पर स्वय मदन है,
रोती है कामना जहाँ पीडा पुकार करती है;
ये भ्रूनियाँ जिनमे उडुओ के अश्रु-विन्दु झरते है,
ये बाँहे, विधु के प्रकाश की दो नवीन किरणो-सी,
और वक्ष के कुसुम-कुज, सुरभित विश्राम-भवन ये,
जहाँ मृत्यु के पथिक ठहर कर श्रान्ति दूर करते है।

यह मुसकान, विभा जैसे दूरागत किसी किरण की;
ध्यान जगा देती मन मे यह किसी असीम जगत् का
जिसे चाहता तो हूँ, पर, मैंने न कभी देखा है।

यह रहस्यमय रूप कही त्रिभुवन मे और नही है,
सुर-किन्नर-गन्धर्व-लोक मे अथवा मर्त्य-भुवन मे।
तुम कैसे, तव कहो, भला, उस भाँति जनम सकती हो
जैसे जग मे अन्य, अपर सौन्दर्य जन्म लेते है?

कहो, सत्य ही, तुम समुद्र के भीतर से निकली थी?
या कि शून्य से प्रकट हो गयी सहसा चीर गगन को?
अथवा जब अरूप सुपमा को रूपायित करने को
ऋषि सौन्दर्य-समाधि वाँध, तन्मय छवि के चिन्तन मे,
बैठे थे निश्चेत, तभी नारी वन निकल पडी तुम
नारायण की महा कल्पना से, एकायन मन से?

उर्वशी

मै मानवी नही, देवी हूँ, देवों के आनन पर
सदा एक झिलमिल रहस्य-आवरण पड़ा होता है।
उसे हटाओ मत, प्रकाश के पूरा खुल जाने से,
जीवन मे जो भी कवित्व है, शेप नही रहता है।

स्पष्ट शब्द मत चुनो, चुनो उनको जो धुँधियाले है,
ये धुँधले ही शब्द ऋचाओं मे प्रवेश पाने पर
एक साथ जोड़ते अनिश्चित को निश्चित आशय से।

और जहाँ भी मिलन देखते हो प्रकाश-छाया का,
वही निरापद विन्दु मनुज-मन का आश्रय शीतल है।
सघन कुज, गोधूलि, चाँदनी, ये यदि नही रहे तो
दिन की खुली धूप मे कव तक जीवन चल सकता है?

द्वाभा का वरदान, सभी कुछ अर्धस्फुट, झिलमिल है,
स्वप्न स्वप्न से, हृदय हृदय से मिल कर सुख पाते है।
यदि प्रकाश हो जाय और जो कुछ भी छिपा जहाँ है,
सब के सब हो जायँ सामने खडे नग्न रूपो मे,
कौन सहेगा वह भीषण आघात भेद-विघटन का ?

इसीलिए, कहती हूँ, अब तक जितना जान सके हो,
उतना ही है अलम्, और आगे इससे जाने पर,
स्यात्, कुतूहल-शमन छोड कुछ हाथ नही आयेगा।
और करूँगी क्या कह कर मै शमित कुतूहल को भी ?

मै अदेह कल्पना, मुझे तुम देह मान बैठे हो,
मै अदृश्य, तुम दृश्य देख कर मुझ को समझ रहे हो
सागर की आत्मजा, मानसिक तनया नारायण की।

कब था ऐसा समय कि जब मेरा अस्तित्व नही था ?
कब आयेगा वह भविष्य जिस दिन मै नही रहूँगी ?
कौन पुरुष, जिसकी समाधि मे मेरी झलक नही है ?
कौन त्रिया, मै नही राजती हूँ जिसके यौवन मे ?
कौन लोक, कौधती नही मेरी ह्लादिनी जहाँ पर ?
कौन मेघ, जिसको न सेज मै अपनी बना चुकी हूँ ?
कहूँ कौन-सी बात और रहने दूं कथा कहाँ की ?
मेरा तो इतिहास प्रकृति की पूरी प्राण-कथा है,
उसी भाँति निस्सीम, असीमित जैसे स्वयं प्रकृति है।

पुरूरवा

सत्य मान कर भी कब समझा भिन्न तुम्हे सपने से ?
नारी कह कर भी कब मैने कहा, मानुषी हो तुम ?

अशरीरी कल्पना, देह धरने पर भी, आँखों से
रही झाँकती सदा, सदा मुझ को यह भान हुआ है,
बाँहों मे जिसको समेट कर उर से लगा रहा हूँ,
रक्त-मास की मूर्त्ति नही, वह सपना है, छाया है।

छिपा नही देवत्व, रच भर भी, इस मर्त्य-वसन मे,
देह ग्रहण करने पर भी तुम रही अदेह विभा-सी।

द्वाभा कहाँ? जहाँ भी ये युग चरण मजु पडते है,
तुम्हे घेर कर खुली मुक्त आभा-सी छा जाती है,
और देखता हूँ मै, जो अन्यत्र नही दिखता है।
तब भी, हो गोधूलि कही, तो उसका पटल हटा कर
आज चाहता हूँ समग्र दर्शन मै उस सपने का,
शेष आयु के लिए जिसे निज दीपक बना चुका हूँ।

कौन सत्य ऐसा कराल है, जिसके अनावरण से
अग्नि प्रकट होगी, मेरे ये लोचन जल जायेगे,
याकि अशनि-आघात घोर मै जिसका सह न सकूँगा?
कहो मुक्त सब कुछ, समक्ष यह प्रतिमा अगर खड़ी है,
मुझे भीति कुछ नही, प्रलय के भी वज्राघातो को
सह लूँगा अनिमेष देखते हुए तुम्हारे मुख को।

उर्वशी

पर, क्या बोलूं? क्या कहूँ?
भ्रान्ति, यह देह-भाव।
मै मनोदेश की वायु व्यग्र, व्याकुल, चचल,
अवचेत प्राण की प्रभा, चेतना के जल मे
मै रूप-रंग-रस-गन्ध-पूर्ण साकार कमल।

मै नही सिन्धु की सुता;
तलातल-अतल-वितल-पाताल छोड,
नीले समुद्र को फोड शुभ्र, झलमल फेनाशुक मे प्रदीप्त
नाचती ऊर्मियो के सिर पर
मै नही महातल से निकली।

मै नही गगन की लता
तारको मे पुलकित फूलती हुई,
मै नही व्योमपुर की बाला,
विधु की तनया, चन्द्रिका-सग,
पूर्णिमा-सिन्धु की परमोज्ज्वल आभा-तरग,
मै नही किरण के तारो पर झूलती हुई भू पर उतरी।

मै नाम-गोत्र से रहित पुष्प,
अम्बर मे उडती हुई मुक्त आनन्द-शिखा
इतिवृत्तहीन,
सौन्दर्य-चेतना की तरग,
सुर-नर-किन्नर-गन्धर्व नही,
प्रिय! मै केवल अप्सरा
विश्वनर के अतृप्त इच्छा-सागर से समुद्भूत।

कामना-तरगो से अधीर
जब विश्वपुरुष का हृदय-सिन्धु
आलोडित, क्षुभित, मथित होकर,
अपनी समस्त वडवाग्नि
कठ मे भर कर मुझे बुलाता है,
तब मै अपूर्वयौवना
पुरुष के निभृत प्राणतल से उठकर

प्रसरित करती निर्वसन, शुभ्र, हेमाभ कान्ति
कल्पना-लोक से उतर भूमि पर आती हूँ,
विजयिनी विश्वनर को अपने उत्तुंग वक्ष
पर सुला अमित कल्पों के अश्रु सुखाती हूँ।

जन-जन के मन की मधुर वह्नि, प्रत्येक हृदय की उजियाली,
नारी की मैं कल्पना चरम नर के मन में बसने वाली।

विषधर के फण पर अमृतवर्ति,
उद्धत, अदम्य, बर्बर बल पर
रूपांकुश, क्षीण मृणाल-तार।
मेरे सम्मुख नत हो रहते गजराज मत्त,
केसरी, शरभ, शार्दूल भूल निज हिंस्र भाव
गृह-मृग-समान निर्विष, अहिंस्र बनकर जीते।
मेरी भ्रू-स्मिति को देख चकित, विस्मित, विभोर
शूरमा निमिष खोले अवाक् रह जाते हैं,
श्लथ हो जाता स्वयमेव शिंजिनी का कसाव,
संस्रस्त करों से धनुष-बाण गिर जाते हैं।

कामना-वह्नि की शिखा मुक्त मैं अनवरुद्ध,
मैं अप्रतिहत, मैं दुर्निवार,
मैं सदा घूमती फिरती हूँ
पवनान्दोलित वारिद-तरंग पर समासीन
नीहार-आवरण में अम्बर के आर-पार;
उड़ते मेघों को दौड़ बाहुओं में भरती,
स्वप्नों की प्रतिमाओं का आलिंगन करती।

विस्तीर्ण सिन्धु के बीच शून्य, एकान्त द्वीप,
यह मेरा उर।

देवालय मे देवता नही, केवल मैं हूँ।
मेरी प्रतिमा को घेर उठ रही अगुरु-गन्ध,
बज रहा अर्चना में मेरी मेरा नूपुर।

मै कला-चेतना का मधुमय, प्रच्छन्न स्रोत,
रेखाओ मे अकित कर अगो के उभार,
भगिमा, तरगित वर्तुलता, वीचियाँ, लहर,
तन की प्रकान्ति रगो मे लिये उतरती हूँ।

पाषाणो के अनगढ अगों को काट-छाँट
मै ही निविडस्तननता, मुष्टिमध्यमा,
मदिरलोचना, कामलुलिता नारी
प्रस्तरावरण कर भग
तोड़ तम को उन्मत्त उभरती हूँ।

भू-नभ का सब सगीत नाद मेरे निस्सीम प्रणय का है,
सारी कविता जयगान एक मेरी त्रयलोक-विजय का है।
प्रिय मुझे प्रखर कामना-कलित, सतप्त, व्यग्र, चचल चुम्बन,
प्रिय मुझे रसोदधि मे निमग्न उच्छल, हिल्लोल-निरत जीवन।

तारो की झिलमिल छाया मे फूलों की नाव बहाती हूँ,
मै नैश प्रभा, सब के भीतर निश की कल्पना जगाती हूँ।

मादन सुगन्ध पवमान-दलित सध्या-तन से उठनेवाली,
नभ से आलिगित कुमुद्वती चद्रिका-यामिनी मतवाली,

कबरी के फूलो का सुवास, आकुचित अधरो का कम्पन,
परिरभ-वेदना से विभोर, कटकित अग, मधुमत्त नयन,

प्रस्तरावरण कर भग,
तोड़ तम को उन्मत्त उभरती हूं।
[पृष्ठ ९७]

दो प्राणों से उठनेवाली वे झंकृतियाँ गोपन, मधुमय,
जो अगुरु-धूम-सी हो जाती ऊपर उठ एक अपर मे लय।

दो दीपों की सम्मिलित ज्योति, वह एक शिखा जब जगती है,
मन के अगाध रत्नाकर मे यह देह डूबने लगती है।

दो हृदयो का वह मूक मिलन, तन शिथिल, स्रस्त अतिशय सुख से,
अलसित आँखे देखती, न कोई शब्द निकलता है मुख से।

कितनी पावन वह रस-समाधि! जब सेज स्वर्ग बन जाती है,
गोचर शरीर मे विभा अगोचर सुख की झलक दिखाती है।

देवता एक है शयित कही इस मदिर शान्ति की छाया मे,
आरोहण के सोपान लगे है त्वचा, रुधिर मे, काया मे।
परिरभ-पाश मे बँधे हुए उस अम्बर तक उठ जाओ रे!
देवता प्रेम का सोया है, चुम्बन से उसे जगाओ रे!

चिन्तन की लहरो के समान सौन्दर्य-लहर मे भी है बल,
सातो अम्बर तक उडता है रूपसी नारि का स्वर्णाचल।
जिस मधुर भूमिका मे जन को दर्शन-तरग पहुँचाती है,
उस दिव्य लोक तक हमे प्रेम की नाव सहज ले जाती है।

ओ शून्य पवन मे मुझे देख चुम्बन अर्पित करनेवालो!
सपूर्ण निशा मेरी छवि का उन्निद्र ध्यान धरनेवालो!
मै देश-काल से परे चिरन्तन नारी हूँ।
मै आत्मतत्र यौवन की नित्य नवीन प्रभा,
रूपसी अमर मै चिर-युवती सुकुमारी हूँ।
तुम त्रिभुवन मे अथवा त्रिकाल मे जहाँ कही भी हो,
अन्तर मे धैर्य धरो।
सरिता, समुद्र, गिरि, वन मेरे व्यवधान नही।

मैं भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान की कृत्रिम बाधा से विमुक्त;
मैं विश्वप्रिया।

तुम पन्थ जोहते रहो,
अचानक किसी रात मैं आऊँगी।
अधरों मे अपने अधरों की मदिरा उँडेल,
मैं तुम्हे वक्ष से लगा
युगों की सचित तपन मिटाऊँगी।

पुरूरवा

आवेशित उद्गार ! यही मर्मों का उद्घाटन है?
हुआ स्रस्त कितना रहस्यमय अवगुठन माया का?
पर, रहस्य हट जाने पर भी रही रहस्यमयी तुम,
मायावरण दूर कर देने पर भी तुम माया हो।

अब भी तो तुम दीप रही निष्कलुप आदि ऊपा-सी,
शुभ्र वह्नि-सी जो अरणी से अभी-अभी फूटी हो,
युग-युग की प्रेयसी हेम-सी जिसकी शुभ्र त्वचा पर
कही काल के स्पर्श याकि उँगली का दाग नही है।

एक स्पर्श कोमल गीतों से भरी हुई उँगली का,
तत्री से नव निनद, नयी झकार उमड पडती है,
धरती हो ये अरुण पुष्प-से पद जिस किसी दिशा मे,
जग उठते है नये पुस कपित नव ईहाओं से।

तुम त्रिकाल-सुन्दरी, अमर आभा अखड त्रिभुवन की
सभी युगों से, सभी दिशाओं से चल कर आयी हो;
इसीलिए, तुम विविध जन्म-कुजो मे पुलक जगा कर
सभी दिशाओं, सभी युगों को पुनः लौट जाओगी।

एक पुष्प मे सभी पुष्प, सब किरणें एक किरण मे,
तुम सहित, एकत्र एक नारी मे सब नारी हो।
प्रति युग की परिचिता, रसाकर्षण प्रति मन्वन्तर का,
विश्व-प्रिया, सत्य ही, महारानी सब के सपनों की।

पर, दिगन्त-व्यापिनी चन्द्रिका मुक्त विहरनेवाली
व्योम छोड कर सिमट गयी जो मेरे भुज-पाशो मे,
रस की कादम्बिनी, विचरती हुई अनन्त गगन मे,
अकस्मात् आकर प्रसन्न जो मुझ पर बरस गयी है,
सो केवल सयोग मात्र है? या इस गूढ मिलन के
पीछे जन्म-जन्म की कोई लीला छिपी हुई है?

जहाँ-जहाँ तुम खिली, स्यात्, मै ही मलयानिल बनकर
तुम्हे घेरता आया हूँ अपनी आकुल बाँहो से।
जिसके भी सामने किया तुम ने कुचित अधरो को,
लगता है, मै ही सदैव वह चुम्बन-रसिक पुरुष था।

मेरी ही थी तपन जिसे फूलो के कुंज-भवन मे
जन्म-जन्म मे तुम आलिगन से हरती आयी हो।
कल्प-कल्प मे सुला प्रणय-उद्वेलित वक्षोजो पर
अश्रु पोछती आयी हो मेरे ही आर्त दृगो का।

जहाँ-जहाँ तुम रही, निष्पलक नयनो की आभा से
रहा सोचता मै, आगे तुम जहाँ-जहाँ जाओगी,
साथ चलूंगा मै सुगन्ध से खिचे हुए मधुकर-सा
या कि राहु जैसे विधु के पीछे-पीछे चलता है।

उर्वशी

चंद्रमा चला, रजनी बीती, हो गया प्रात,
पर्वत के नीचे से प्रकाश के आसन पर
आ रहा सूर्य फेकते बाण अपने लोहित,
विंध गया ज्योति से, वह देखो, अरुणाभ शिखर।

हिम-स्नात, सिक्त वल्लरी - पुजारिन को देखो,
पति को फूलों का नया हार पहनाती है,
कुंजों मे जनमा है कल कोई वृक्ष कहीं,
वन की प्रसन्न विहगावलि सोहर गाती है।

कट गया वर्ष ऐसे जैसे दो निमिप गये,
प्रिय! छोड गन्धमादन को अब जाना होगा,
इस भूमि-स्वर्ग के हरे-भरे, शीतल वन मे
जानें, कब राजपुरी से फिर आना होगा!

कितना अपार सुख था, बैठे चट्टानों पर
हम साथ-साथ झरनों मे पाँव भिगोते थे,
तरु - तले परस्पर बाँहों को उपधान बना
हम किस प्रकार निश्चिंत छाँह मे सोते थे!

जाने से पहले चलो, आज जी खोल मिले
निर्झरी, लता, फूलों की डाली-डाली से,
पी ले जी भर पर्वत पर का नीरव प्रकाश,
ले सींच हृदय झूमती हुई हरियाली से।

चतुर्थ अङ्क

विस्मृताऽभिनयं सर्वं
यत्पुरातन - वेदितम्,
शशाप भरतः कोपात्
वियोगात्तस्य भूतले···
—पद्मपुराण

एष दीर्घायुरायुर्जातमात्र एव
उर्वश्या किमपि निमित्तमवेक्ष्य
मम हस्ते न्यासीकृतः।
—विक्रमोर्वशीयम्

नारी ही वह महासेतु जिस पर अदृश्य से चल कर
नये जीव, नव प्राण दृश्य जग में आते रहते हैं।
[पृष्ठ ११७]

स्थान—महर्षि च्यवन का आश्रम

[महर्षि की पत्नी सुकन्या उर्वशी के नवजात पुत्र को गोद मे लिये खड़ी है। चित्रलेखा का प्रवेश]

सुकन्या

अच्छा, तू आ गयी चित्रलेखे ? निदिया मुन्ने की,
अकस्मात्, तेरी आहट पा कर यों उचट गयी है,
मानो, इसके मन मे जो अवर का अंश छिपा है,
जाग पड़ा हो सुनते ही पद-चाप स्वर्ग की भू पर।

यह प्रसून छविमान् मही-नभ के अद्‌भुत परिणय का,
जाने, पिता-सदृश रस-लोभी होगा क्षार मही का
या देवता-समान मात्र गन्धों का प्रेमी होगा ?

चित्रलेखा

मही और नभ दो है, ये सब कहने की बातें है।
खोदो जितनी भूमि, शून्यता मिलती ही जायेगी।
और व्योम जो शून्य दीखता, उसके भी अन्तर मे
भांति-भांति के जलद-खड घूमते, और पावस में
कभी-कभी रंगीन इन्द्रधनुषी भी उग आती है।

सुकन्या

और इन्द्रधनुषी के उगने पर विरक्त अम्बर की
क्या होती है दशा ?

चित्रलेखा

तुम्हे ही इसका ज्ञान नही है?
योगीश्वर तज योग, तपस्वी तज निदाघमय तप को
रूपवती को देख मुग्ध इस भाँति दौड पडते है,
मानो, जो मधु-शिखा ध्यान मे अचल नही होती थी,
ठहर गयी हो वही सामने युवा कामिनी बन कर।

भूल गयी, जब किया स्पर्श तुमने ध्यानस्थ च्यवन का,
ऋषि समाधि से किस प्रकार व्याकुल-विलोल जागे थे?

सुकन्या

किन्तु, चित्रलेखे! मुझ को अपने महर्षि भर्त्ता पर
ग्लानि नही, निस्सीम गर्व है।

चित्रलेखा

यही गर्व मुझ को भी
हो आता है अनायास उन तेजवन्त पुरुषो पर,
बाधक नही तपोव्रत जिनके व्यग्र-उदग्र प्रणय का,
न तो प्रेम ही विघ्न डालता जिनके तपश्चरण मे;
प्रणय-पाश मे बँधे हुए भी जो निमग्न मानस से
उसी महासुख की चोटी पर चढे हुए रहते है,
जहाँ योग योगी को, कवि को कविता ले जाती है।
और निरंजन की समाधि से उन्मीलित होने पर
जिनके दृग दूषते नही अजनवाली आँखों को।

तप का कर उत्सर्ग प्रेम पर तपोनिधान च्यवन ने
मात्र तुम्हे ही नही, जगत् भर की सीमतिनियो को
अमिट, अपार, त्रिलोक-जयी गौरव का दान दिया है।

और पुनः यौवन धारण कर उन अमोघ द्रष्टा ने
दिखा दिया, इन्द्रिय-तर्पण मे कोई दोष नही है।

एक प्रेम वह, जो विधु-सा ऊपर उठता जाता है
हो कर बीचो-बीच किन्ही दो ऐसे ताल-द्रुमों के
जिन वृक्षों ने कभी प्रणय-आलिगन नही किया है।

और दूसरा वह, पड कर जिसके रस-आलोड़न में
दो मानस ही नही, एक दो तन भी हो जाते हैं।

प्रथम प्रेम जितना पवित्र हो, पर, केवल आधा है;
मन हो एक, किन्तु, इस लय से तन को क्या मिलता है?
केवल अन्तर्दाह, मात्र वेदना अतृप्ति, ललक की;
दो निधि अन्त क्षुब्ध, किन्तु, सत्रस्त सदा इस भय से,
बाँध तोड मिलते ही व्रत की विभा चली जायेगी,
अच्छा है, मन जले, किन्तु, तन पर तो दाग नही है।

मृषा तर्क, मन मलिन हुआ तो तन में प्रभा कहाँ है?
तन-मन का यह भेद सुकन्ये! मुझे नही रुचता है।
बलिहारी उस पूर्ण प्रेम की जिसकी क्षिप्र लहर मे
केवल मन ही नही, अग-सज्ञा भी खो जाती है।

धन्य त्रिया वह जो बलिष्ठ नर की पिपासु बाँहों में
आँख मूंद रस-मग्न प्रणय-पीड़न असह्य सहती है,
जैसे बहता कुसुम तरगित सागर की लहरो पर।

धन्य पुरुष जो वर्ष-वर्ष निष्काम, उपोषित रहकर
जठरानल को तीव्र, क्षुधा को दीपित कर लेते है।

सतत भोग-रत नर क्या जाने तीक्ष्ण स्वाद जीवन का?
उसे जानता वह, जिसने कुछ दिन उपवास किया हो।

सदा छाँह मे पलो, प्रेम यह भोग-निरत प्रेमी का;
पर, योगी का प्रेम धूप से छाया में आना है।

सुकन्या

एकचारिणी मैं क्या जानूँ स्वाद विविध भोगों का?
मेरे तो आनन्द-धाम केवल महर्षि भर्त्ता है।
योग-भोग का भेद अप्सरा की अबन्ध क्रीडा है,
गृहिणी के तो परम देव आराध्य एक होते हैं,
जिससे मिलता भोग, योग भी वही हमे देता है।
क्या कुछ मिला नही मुझ को दयिता महर्षि की हो कर?

शिखर-शिखर उड़ने में, जानें, कौन प्रमोद-लहर है!
किन्तु, एक तरु से लग सारी आयु विता देने मे
जो प्रफुल्ल, घन, गहन शान्ति है, वह क्या कभी मिलेगी
नये-नये फूलों पर नित उड़ती फिरनेवाली को?

नही एक से अधिक प्राण नारी के भी होते हैं,
तो फिर वह पालती खिला कर क्या विभिन्न पुरुषों को?
और पुरुष कैसे जी लेता पाये विना हृदय को?

स्यात्, मात्र छू भित्ति योषिता के शरीर-मन्दिर की,
धनु, प्रसून, उन्नत तरंग की जहाँ चित्रकारी है।

पर, ये चित्र अचिर, भौहों के धनुष सिकुड जायेंगे,
छूटेगी अरुणिमा कपोलों के प्रफुल्ल फूलो की।
और वक्ष पर जो तरंग यौवन की लहराती है,
पीछे समतल छोड़ जरा मे जा कर खो जायेगी।

तब फिर अन्तिम शरण कहाँ उस हतभागी नारी को?
यौवन का भग्नावशेष वह तब फिर किसे रुचेगा?
यहाँ देव-मन्दिर मे भी तब तक ही जन जाते है,
जब तक हरे-भरे, मृदु है पल्लव-प्रसून तोरण के
और भित्तियों के ऊपर सुन्दर, सुकुमार त्वचा है।
टूट गया यदि हर्म्य, देवता का भी आशु मरण है।

इसीलिए, कहती हूँ, जब तक हरा-भरा उपवन है,
किसी एक के सग बाँध लो तार निखिल जीवन का,
न तो एक दिन वह होगा जब गलित, म्लान अगों पर
क्षण भर को भी किसी पुरुष की दृष्टि नही विरमेगी;
बाहर होगा विजन निकेतन, भीतर प्राण तजेगे
अन्तर के देवता तृषित भीषण हाहाकारों मे।

चित्रलेखा

कौन लक्ष्य?

सुकन्या

जिसको भी समझो।

चित्रलेखा

मै तो तृपित नही हूँ,
न तो देवता ही व्याकुल मेरे प्रसन्न प्राणो के।
दृष्टि जहाँ तक भी जाती है, मुझे यही दिखता है,
जब तक खिलते फूल, वायु लेकर सुगन्ध चलती है,
खिली रहूँगी मै, शरीर मे सौरभ यही रहेगा।

सुकन्या

सो, केवल इसलिए कि तुम अप्सरा, सिद्ध नारी हो।
विगलित कभी कहाँ होता यौवन तुम अप्सरियों का?
पर, यौवन है मात्र क्षणिक छलना इस मर्त्य भुवन मे,
ले उसका अवलब मानवी कब तक जी सकती है?

अप्सरियाँ जो करें, किन्तु, हम मर्त्य योपिताओं के
जीवन का आनन्द-कोप केवल मधुपूर्ण हृदय है।
हृदय नही त्यागता हमें यौवन के तज देने पर,
न तो जीर्णता के आने पर हृदय जीर्ण होता है।

एक-दूसरे के उर मे हम ऐसे बस जाते हैं,
दो प्रसून एक ही वृन्त पर जैसे खिले हुए हों।
फिर रह जाता भेद कहाँ पर शिशिर, घाम, पावस का?
एक सग हम युवा, सग ही सग वृद्ध होते हैं।
मिल कर देते खेप अनुद्धतमन विभिन्न ऋतुओ को;
एक नाव पर चढे हुए हम उदधि पार करते हैं।

अप्सरियाँ उद्विग्न भोगती रस जिस चिर यौवन का,
उससे कही महत् सुख है जो हमे प्राप्त होता है
निश्छल, शान्त, विनम्र, प्रेमभर उर के उत्सर्जन से।

चित्रलेखा

सचमुच, यह सुख अप्रमेय है, मन ही नन्दि-निलय है।
क्षण भर पा कर हृदय-दान जब उतना सुख मिलता है,
तब कितना मिलता होगा यह सुख उन दपतियों को
जो सदैव के लिए हृदय उत्सर्जित कर देते हैं।

किन्तु, सुकन्ये! डरी नहीं तू, जब तेरे स्पर्शन से
मुनिसत्तम खंडित समाधि से कोपाकुल जागे थे?
क्रुद्ध तापसों से तो अप्सरियाँ भी डर जाती हैं।

सुकन्या

डरी नहीं मैं? हाय, चित्रलेखे! कौतूहल से ही
मैंने तनिक पलक खींची थी ध्यानमग्न मुनिवर की।
पर, नयनों के खुलते ही उद्भासित रन्ध्र-युगल से,
लगा, अग्नि ही स्वयं फूट कर कढ़े चले आते हों,
और नहीं कुछ, एक ग्रास में मुझे लील जाने को।
रंच मात्र भी हिली नहीं, निष्कंप, चेतना-हीना
खड़ी रही उस भयस्तंभ-पीड़िता, असंज्ञ मृगी-सी
जिसकी मृत्यु समक्ष खड़ी हो मृग-रिपु की आँखों में।

पर, मैं जली नहीं, तत्क्षण पावक ऋषि के नयनों का
परिणत होने लगा स्वयं शीतल मधु की ज्वाला में,
मानो, प्रमुदित अनल-ज्वाल जावक में बदल रहा हो।
नयन रक्त, पर, नहीं कोप से, आसव की लाली से।

सहसा फूट पड़ी स्मिति की आभा ऋषि के आनन पर,
लौट गया मेरी ग्रीवा पर आ कर हाथ प्रलय का।
ज्यों ही हुई सचेत कि लज्जा से सुगबुगा उठी मैं।
पट सँभाल कर खड़ी देखने लगी वक्र लोचन से,
अब, जाने, क्या भाव सुलगते हैं महर्षि के मुख पर।

पुलकित हो उठे मुनीश्वर, बोले अमृत-गिरा से,
'सौम्ये! हो कल्याण, कहाँ से इस वन में आयी हो?
सुर-कुल की शुचि प्रभा या कि मानव-कुल की तनया हो?

"कहाँ मिला यह रूप, देखते ही जिसको पावक की
दाहकता मिट गयी, स्थाणु मे पत्ते निकल रहे है?

"वरण करोगी मुझे? तुम्हारे लिए जरा को तज कर
शुभे! तपस्या के वल से यौवन मै ग्रहण करूँगा
प्रौढ मेघ, पादप नवीन, मदकल, किशोर कुजर-सा।

"डरो नही, यह तपोभंग च्युति नही, सिद्धि मेरी है।
पहले भी जव हुआ पूर्ण कटु तप महर्षि कर्दम का,
स्वर्ग नही, ऋषि ने वर मे नारी मनोज्ञ माँगी थी।
सो तुम सम्मुख खड़ी तपस्या के फल की आभा-सी,
अब होगा क्या अपर स्वर्ग जिसका सधान करूँ मै?
हरि प्रसन्न यदि नही, सिद्धि वन कर तुम क्यो आयी हो?

"मणि-माणिक्य नही, तप केवल एक रत्न तापस का;
शुचिस्मिते! मै वही रत्न तुमको अर्पित करता हूँ।
हम-तुम मिल कर साथ रहेगे जहाँ पर्णशाला मे,
शुभे! स्वर्ग वरदान माँगने वहाँ स्वय आयेगा।"

चित्रलेखा

कीर्त्तिमान की कीर्त्ति, साधना भावुक तपोव्रती की
जो रसमय उद्वेग त्रिया के उर मे भर सकती है,
वह उद्वेग भला जागेगा मणि, माणिक्य, मुकुट से?
धन्य वही जो विभव नही, यश को अर्पित होती है

सुकन्या

चित्रे! मै भर गयी, न जाने, किस अपार महिमा
प्रथम-प्रथम ही उठा जाग नारीत्व विभासित हो

लगा, सूर्य मे चमक रहा जो, वह प्रकाश मेरा है,
महा व्योम मे भरे रत्न मुझ से ही छिटक पड़े है,
नाच रही ऊर्मियाँ भगिमा ले मेरे चरणो की,
दौड़ रही वन मे जो, वह मेरी ही हरियाली है।

लौट गये थे हो निराश शत-शत युवराज जहाँ से,
वही द्वार खुल गया श्रवण कर यह प्रशस्ति तापस की,
"हरि प्रसन्न यदि नही, सिद्धि बन कर तुम क्यो आयी हो?"

हाय, चित्रलेखे! प्रशस्तियाँ क्या-क्या नही सुनी थी?
किसे नही मुख मे दीखा था पूर्ण चद्र अम्बर का,
नयनो मे वारुणी और सीपी की चमक त्वचा मे?

पर, अदृश्य जो देव पडे थे गहन, गूढ मन्दिर मे,
उनका वन्दन-गान किसी ने कहाँ, कभी गाया था?

लौट गये सब देख चमत्कृत शोणित, मास, त्वचा को,
रगो के प्राचीर, गन्ध के घेरो से टकरा कर;
कोई भी तो नही त्वचा के परे पहुंच पाया था।

सब को लगा, मोहिनी-सी मुझ मे कुछ भरी हुई है,
पर, यह सम्मोहन-तरग आती है उमड जहाँ से,
भीतर के उस महा सिन्धु तक किसकी दृष्टि गयी थी?

देखा उसे महर्षि च्यवन ने और सुप्त महिमा को
जगा दिया आयास-मुक्त, निश्छल प्रशस्ति यह गा कर,
"हरि प्रसन्न यदि नही, सिद्धि बन कर तुम क्यो आयी हो?"

लगा मुझे, सर्वत्र देह की पपरी टूट रही है,
निकल रही है त्वचा तोड कर दीपित, नयी त्वचाएँ;

चला आ रहा फूट अतल से कुछ मधु की धारा-सा,
हरियाली से मैं प्रसन्न आकंठ भरी जाती हूँ।

रही मूक की मूक, किन्तु, अम्बर पर चढे हृदय ने
कहा, "गूढ द्रष्टा महर्षि! तुम मृषा नही कहते हो;
परम सत्य की स्मिति उदार, मै देवी, मैं नारी हूँ।
रूप दीर्घ तप का प्रसाद है, विविध साधनाओं से
तापस, प्रज्ञावान् पुरुष जो सिद्धि लाभ करते हैं,
अनायास ही सुलभ शक्ति वह रूपमती नारी को।
नारी का सौन्दर्य विश्व-विजयिनी, अमोघ प्रभा है।

"सचमुच ही, फूटते स्पर्श से पत्र अपत्र द्रुमों मे,
धरती जहाँ चरण, ऊसर मे फूल निकल आते है।

"मै अनन्त की प्रभा, नही अनुचरी किरीट, मुकुट की
प्रणय-पुण्यशीला स्वतंत्र मैं केवल उसे वरूँगी,
जिसमें होगी ज्योति किसी दारुणतम तपश्चरण की।

किन्तु, हाय, तुम एक वार क्यों नही पुनः कहते हो,
"हरि प्रसन्न यदि नही, सिद्धि बन कर तुम क्यों आयी हो?"

चित्रलेखा

उफ री! मादक घड़ी प्रेम के प्रथम-प्रथम परिचय की!
मर कर भी सखि! मधु मुहूर्त्त यह कभी नही मरता है।
जब चाहो, साकार देख लो उसे वन्द आँखों मे।

पर, मै क्यों, इस भाँति, स्वयं कंटकित हुई जाती हूँ?
प्रथम प्रेम की स्मृति भी कितनी पुलकपूर्ण होती है!

च्यवन पूज्य सारी वसुधा के, पर, असंख्य ललनाएँ
उन्हे देखती है अपार श्रद्धा, असीम गौरव से।
नारी को पर्याय बता कर तप सिद्धि भूमा का,
सचमुच, त्रिया-जाति को ऋषि ने अद्भुत मान दिया है।

सुकन्या

पूछो मत, वैसे तो, ऋषि की प्रकृति तनिक कोपन है;
मन की रचना मे निविष्ट कुछ अधिक अंश पावक का।
किन्तु, नारियो पर, सचमुच, उनकी अपार श्रद्धा है,
और सहज उतनी ही वत्सलता निरीह शिशुओं पर।

कहते है, "शिशु को मत देखो अगभीर भावों से,
अभी नही ये दूर केन्द्र से परम गूढ सत्ता के;
जाने, क्या कुछ देख स्वप्न मे भी हँसते रहते हैं!

"स्यात्, भेद जो खुला नही अब तक रहस्य-ज्ञानी पर,
अनायास ही उसे देखते है ये सहज नयन से,
क्योंकि दृष्टि पर अभी ज्ञान का केंचुल नहीं चढा है।

"जिसके भी भीतर पवित्रता जीवित है शिशुता की,
उस अदोष नर के हाथों मे कोई मैल नहीं है।"

जब उर्वशी यहाँ आयी थी पुत्र प्रसव करने को,
ऋषि ने देखा था उसको, क्या कहूँ कि किस ममता से?
और रात के समय कहा चिन्तन-गंभीर गिरा मे,
"शुभे! त्रिया का जन्म ग्रहण करने मे बड़ा सुकृत है।
[illegible] पर विजय प्राप्त कर लेना वीर नरों पर
बड़ी शक्ति है, शुचिस्मिते! पुरुष इसे कहता हैं।

"और नारियों मे भी श्लथ, गर्भिणी, सत्वशीला को
देख मुझे सम्मानपूर्ण करुणा-सी हो आती है।
कितनी विवश, किन्तु, कितनी लोकोत्तर वह लगती है!

"देह-कान्ति पीतिमा-युक्त, गति नही पदों के वश मे,
चल लेती है किसी भाँति पीवर उस मेघाली-सी
जो समुद्र का जल पीकर मन्थर डगमगा रही हो।

"आकृति ओप-विहीन, किन्तु, वह रहित नही भावों से,
फिर भी, कोई रग देर तक ठहर नही पाता है,
विवशा के वश मे, मानो, अब ये ऊर्मियाँ नही हो।

"दृग हो जाते वक्र या कि बाहर मन के बन्धन से,
देख नही पाती, जैसे देखना चाहती है वह;
यही बेबसी मुख पर आकुलता बन छा जाती है।

"निस्सहाय, उदरस्थ भविष्यत् के अधीन वह दीना
किस प्रकार रख सके भला अपने वश मे अपने को?
जो चाहता भविष्य, वक्त्र पर वही भाव आते हैं।
मानो, जो ले जन्म कभी तुतली वाणी बोलेगा,
लगा भेजने वह अजात तुतले सकेत अभी से।
सत्ववती नारी अकन-पट है भविष्य के कर का।

"कितनी सह यातना पालती त्रिया भविष्य जगत् का?
कह सकता है कौन पूर्ण महिमा इस तपश्चरण की?"

और प्रसूता के समीप से जब महर्षि आये थे,
बोले थे, "उर्वशी अभी, देखा, कैसी लगती थी,
पड़ी हुई निस्तब्ध शमित पीड़ा की शान्त कुहू मे?

"तट पर लगी अचल नौका-सी जो अदृश्य मे जा कर
दृश्य जगत् के लिए सार्थ जीवन का ले आयी हो,
और रिक्त हो कर प्रभार से अब अशेष तन्द्रा मे
याद कर रही हो धुँधली बाते अदृश्य के तट की।

"बाँध रहा जो ततु लोक को लोकोत्तर जगती से,
उसका अन्तिम छोर, न जाने, कहाँ अदृश्य छिपा है।
दृश्य छोर है, किन्तु, यहाँ प्रत्यक्ष त्रिया के उर मे।

"नारी ही वह महासेतु जिस पर अदृश्य से चल कर
नये मनुज, नव प्राण दृश्य जग मे आते रहते है।
नारी ही वह कोष्ठ, देव, दानव, मनुष्य से छिप कर
महा शून्य, चुपचाप, जहाँ आकार ग्रहण करता है।

"सच पूछो तो, प्रजा-सृष्टि मे क्या है भाग पुरुष का?
यह तो नारी ही है जो सब यत्न पूर्ण करती है।
सत्व-भार सहती असग, सन्तति असग जनती है,
और वही शिशु को ले जाती मन के उच्च निलय मे,
जहा निरापद, सुखद कक्ष है शैशव के झूले का।

"शुभे! सदा शिशु के स्वरूप मे ईश्वर ही आते है।
महापुरुष की ही जननी प्रत्येक जननि होती है;
किन्तु, भविष्यत् को समेट अनुकूल बना लेने का
मिलता कहा सुयोग विश्व की नारी माताओ को?
तब भी, इनका श्रेय सुचरिते! अल्प नहीं, अद्भुत है।"

[उर्वशी का प्रवेश]

उर्वशी

(चित्रलेखा से)

अच्छा ! तो यह आप सखी के संग विराज रही हैं !
अब तो यही भेंट हो जाती है सब अप्सरियों से।
च्यवन-कुटी है अथवा यह मघवा का मोद-भवन है ?

चित्रलेखा

मोद-भवन हो भले सुकन्या का यह, पर, अपना तो
राज-भवन है, जहाँ कल्पना और सत्य-सगम से
मनुजों का अगला शशाक-वशी नरेश जनमा है।
हम अप्सरा, किन्तु, आर्या किस मानव की बेटी है ?

उर्वशी

बेटी नही हुई तो क्या ? अब माँ तो हूँ मानव की ?
नही देखती, रत्नमयी को कैसा लाल दिया है ?

चित्रलेखा

कौन कहे, जो तेज दमकता है इसके आनन पर,
प्राप्त हुआ हो इसे अंश वह जननी नही, जनक से ?

उर्वशी

अरी, देखती नही, लाल की नन्ही-सी आँखों मे
अब भी तो सुस्पष्ट स्वर्ग के सपने झलक रहे हैं ?
टुकुर-टुकुर सतुष्ट भाव से कैसे ताक रहा है ?
मानो, हो सर्वज्ञ, सर्व-दर्शी समर्थ देवों-सा !

सुकन्या

सखी! तुम्हारा लाल अभी से बहुत-बहुत नटखट है,
देख रही हूँ बड़े ध्यान से, जब से तुम आयी हो,
तुम पर से इस महाधूर्त की दृष्टि नहीं हटती है।
लो, छाती से लगा जुडाओ इसके तृषित हृदय को,
जो भी करूँ, दुष्ट मुझ को अपनी माँ क्यों मानेगा?

उर्वशी

अरी, जुडाना क्या इसको? ला, दे, इस हृदय-कुसुम को
लगा वक्ष से स्वय प्राण तक शीतल हो जाती हूँ।

[सुकन्या की गोद से बच्चे को लेकर हृदय से लगाती है।]

आह! गर्भ मे लिये इसे कल्पना-शृग पर चढकर
किस सुरम्य, उत्तुग स्वप्न को मैंने नही छुआ था?

यही चाहती थी, समेट कर पी लूं सूर्य-किरण को,
विधु की कोमल रश्मि, तारको की पवित्र आभा को,
जिससे ये अपरूप, अमर ज्योतियाँ गर्भ मे जा कर
समा जायँ इसके शोणित मे, हृदय और प्राणो मे।

यही सोचती थी, त्रिलोक मे जो भी शुभ, सुन्दर है,
बरस जाय सब एक साथ मेरे अंचल मे आ कर;
मैं समेट सब को रच दूं मुसकान एक पतली-सी,
और किसी भी भाँति उसे जड दूं इसके अधरो पर!

सब का चाहा भला कि इसके मानस की रचना मे
समावेश हो जाय दया का, सभी भली बातो का।
विनय मनाती रही अगोचर निराकार, निर्गुण को,
भ्रूण-पिण्ड को परम देव छू दे अपनी महिमा मे।

वह सब होगा सत्य, लाल मेरा यह कभी उगेगा
पिता-सदृश ही अपर सूर्य बन कर अखड भूतल मे।
और भरेगा पुण्यवान् यह माता का गुण ले कर
उर-अन्तर अनुरक्त प्रजा का शीतल हरियाली से।

जब होगा यह भूप, प्रचुर धन-धान्यवती भू होगी,
रोग, शोक, परिताप, पाप वसुधा के घट जायेगे,
सब होंगे सुखपूर्ण, जगत् मे सब की आयु बढेगी,
इसीलिए, तो सखी! अभी से इसे आयु कहती हूँ।

[बच्चे को बार-बार चुमकारती है।]

कितनी मृदुल ऊर्मि प्राणों में अकथ, अपार सुखों की!
दुग्ध-धवल यह दृष्टि मनोरम कितनी अमृत-सरस है!
और स्पर्श मे यह तरग-सी क्या है सोम-सुधा की,
अक लगाते ही आँखों की पलके झुक जाती है!

हाय, सुकन्ये! कल से मै, जानें, किस भाँति जियूँगी!

सुकन्या

क्यों, कल क्या होगा?

उर्वशी

कल से मुझ पर पहाड टूटेगा।
यज्ञ पूर्ण होगा, विमुक्त होते ही आचारों से
कल, अवश्य ही, महाराज मेरा सधान करेगे।
और न क्षण भर कभी दूर होने देगे आँखों से।

हाय, दयित जिसके निमित्त इतने अधीर, व्याकुल है,
उनका वह वशधर जन्म ले वन मे छिपा पडा है।

और विवशता यह तो देखो, मैं अभागिनी नारी
दिखा नहीं सकती सुत का मुख अपने ही स्वामी को,
न तो पुत्र के लिए स्नेह स्वामी का तज सकती हूँ।

भरत-शाप जितना भी कटु था, अब तक वह वर ही था,
उसका दाहक रूप सुकन्ये! अब आरभ हुआ है।

सुकन्या

महा क्रूर-कर्मा कोविद; ये भरत बड़े दारुण हैं।
यह भी क्या वे नही जानते, सतति के आने पर
पति-पत्नी का प्रणय और भी दृढतर हो जाता है?

बाला रहती बँधी मृदुल धागों से शिरिष-सुमन के,
किन्तु, अंक में तनय, पयस् के आते ही अचल में,
वही शिरिष के तार रेशमी कड़ियाँ बन जाते हैं।

और कौन है, जो तोड़े झटके से इन बन्धन को?
रेशम जितना ही कोमल, उतना ही दृढ होता है।

कौन भामिनी है, जो अंगज पुत्र और प्रियतम में
किसी एक को लेकर सुख से आयु बिता सकती है?
कौन पुत्रश्री तज सकती है पति के लिए तनय को?
कौन सती सुत के निमित्त स्वामी को त्याग सकेगी?

यह संघर्ष प्रबल! उर्वशी! बड़ा कठिन निर्णय है।
पुत्र और पति नहीं, पुत्र या केवल पति पाओगी,
तो भी तब जब छिपा सको निष्ठुर बन सदा तनय को,
और मिटा दो इसी छिपाने में भविष्य बेटे का।

काम-लोल कटि के कंपन, भौंहो के संचालन से

[पृष्ठ १२३]

सखी! दुष्ट मुनि ने कितना यह भीषण शाप दिया है!
इससे तो था श्रेष्ठ भस्म कर देते तुम्हे जला कर।

चित्रलेखा

किन्तु, जला दे तो सध्या आने पर इन्द्र-सभा मे
नाच-नाच कर कौन देवताओ की तपन हरेगी
काम-लोल कटि के कपन, भौहों के सचालन से?

सरल मानवी क्या जानो तुम कुटिल रूप देवों का?
भस्म-समूहो के भीतर चिनगियाँ अभी जीती है।
सिद्ध हुए, पर सतत-चारिणी तरी मीनकेतन की
अब भी मन्द-मन्द चलती है श्रमित रक्त-धारा मे।

सहे मुक्त प्रहरण अनग का, दर्प कहा वह तन मे?
विबुध पचशर के बाणो को मानस पर लेते है।
वश मे नही सुरो के प्रशमन सहज, स्वच्छ पावक का,
ये भोगते पवित्र भोग शरीरों मे वह्नि जगा कर!

कहते है, अप्सरा बचे यौवनहर प्रसव-व्यथा से,
और अप्सराएँ इस सुख से बचती भी रहती है।
क्योकि कही बन गयी भूमि पर वे माताएँ बन कर,
रस-लोलुप दृष्टिया सिद्ध, तेजोनिधान देवो की
लोटेगी किनके कपोल, ग्रीवा, उर के तल्पो पर?

हम फूल नही, रश्मियाएँ है मात्र अनुरक्त मदन की।

हाय, सुकन्ये! निमिनि-शाप से भिन्न अप्सराओ की
कोई भी तो नही विरल वेदना समझ पाता है।

सुकन्या

(उर्वशी से)

तो यह दारुण नियति-क्रीड कब तक चलता जायेगा?
कब तक तुम इस भाँति नित्य छिप कर वन मे आओगी
सुत को हृदय लगा, क्षण भर, मन शीतल कर लेने को?
और आयु, कुछ कह सकती हो, कब तक यहाँ रहेगा?

हे भगवान्! उर्वशी पर यह कैसी विपद् पड़ी है।

उर्वशी

आने को तो, स्यात्, आज यह अन्तिम ही आना है।
कल से तो फिर लौट पडेगी वही सरणि जीवन की,
दिन भर रहना सग-सग प्रियतम के, जहाँ रहे वे,
और बिता देना समग्र रजनी उस प्रणय-कथा मे
जिसका कही न आदि, न तो मध्यावसान होता है।
तब भी, जाने, विरह आयु का कैसे झेल सकूंगी?
हाय पुत्र! तू क्यों आया था उसके वन्ध्य उदर मे,
अभिशप्ता जो नही प्यार माँ का भी दे सकती है?

मै निमित्त ही रही, सुकन्ये! इस अबोध बालक की
तुम्हे छोड कर निखिल लोक मे और कौन माता है?
केवल भ्रूण-वहन, केवल प्रजनन मातृत्व नही है,
माता वही, पालती है जो शिशु को हृदय लगा कर।
सखी! दयामयि देवि! शरण्ये! शुभे! स्वसे! कल्याणी!
मै क्या कहूँ, वश से बिछुडा कब तक आयु रहेगा
यहाँ धर्म की शरण, तुम्हारे अचल की छाया मे?
किन्तु, पिता-गृह तो, अवश्य ही, उसे कभी जाना है,
वह हो आज या कि कुछ दिन मे या यौवन आने पर।

अपना सुख तृणवत् नगण्य है, उसे छोड़ सकती हूँ।
किन्तु, पुत्र का भाग्य भूमि पर रह कैसे फोड़ूँगी?
देना भेज, उचित जब समझो, मुझ से जनित तनय पर
जभी पड़ेगी दृष्टि दयित की, वज्र आन टूटेगा,
गरज उठेगा भरत-शाप, मैं पराधीन पुतली-सी
खिंची हुई क्षिति छोड़ अचानक स्वर्ग चली जाऊँगी।
छूट जायँगे अकस्मात् वे सुख, जिनके लालच में,
जब से आयी यहाँ, कल्प-कानन को भूल गयी हूँ।

यह धरती, यह गगन, मृगों से भरी, हरी अटवी यह,
ये प्रसून, ये वृक्ष स्वर्ग में बहुत याद आयेंगे।
झलमल-झलमल सरित्सलिल वह ऊषा की लाली से,
शस्यों पर बिछली-बिछली आभा वह रजत-किरण की,
चहक-चहक उठना वह विहगों का निकुंज-पुंजों में,
स्वर्गवासिनी मैं, श्रद्धा से, नमस्कार करती हूँ
अविनश्वर सौन्दर्यपूर्ण नश्वर इस सदा मही को।
कितना सुख! कितना प्रमोद! कितनी आनन्द-लहर है!
कितना काम्य स्वर्गीय स्वयं सुरपुर है इस वसुधा में!

दिन में भी अवरुद्ध किये मोहिनी निशा छाया को
ये पर्वत रसमग्न, अचल कितने प्रसन्न लगते हैं!
कितना हो उठता महान् यह गगन निशा आने पर,
जब इसके उर में विराट नक्षत्र-ज्वार आता है।
जो उतरी यामिनी गहन तब इन निस्तब्ध वनों में,
कौन भाग है जिसे [illegible] अन्धकार भाता है?
अभी ? जब बाल स्वर्ण-कुंकुम-सी सुबह क्षितिज में
कौन भाग है जिसे तृणों पर वह [illegible] [illegible] है?

और गन्धमादन का वह अनमोल भुवन फूलों
मृग ही नही, विटप-तृण भी कितने सजीव लगते
पत्र-पत्र को श्रवण वना अटवी कैसे सुनती थी
सूक्ष्म निनद, चुपचाप, हमारे चुंबन, कल-कूजन का
झुक आती थी, किस प्रकार, डालियाँ हमे छूने को,
शैलराज, मानो, सपने मे वाँहे वढा रहा हो।
किस प्रकार विचलित हो उठते थे प्रसून कुजों के,
मानो, गन्धपूर्ण साँसो से हमको पी जायेगे।
फेन-फेन होती वह ऊर्मिल हरियाली शिखरों की
ज्वार वाँध, किस भाँति, वादलो को छूने उठती थी?
कैसे वे तटिनियाँ उछलती हुई सुढाल शिला पर
हमे देख चलने लगती थी और अधिक इठला कर!

और हाय! वह एक निर्झरी पिघले हुए सुकृत-सी,
तीर-द्रुमो की छाया मे कितनी भोली लगती थी!
लगता था, यह चली आ रही जिस पवित्र उद्गम से,
वही कही रहते होगे नारायण कुटी वना कर।

आह! गन्धमादन का वह सुख और अक प्रियतम का।
सखी! स्वर्ग मे जो अलभ्य है, उस आनन्द मदिर का,
इसी सरस वसुधा पर, मैंने छक कर पान किया है।
व्याप गयी जो सुरभि घ्राण मे, सुषमा चकित नयन मे,
रोमांचक सनसनी स्पर्श-सुख की जो समा गयी है
त्वचा-जाल, ग्रीवा, कपोल मे, उँगली की पोरों मे,
धो पायेगा उसे कभी क्या सलिल वियद्-गगा का?
पारिजात-तरु-तले ध्यान मे जगी हुई खोजूंगी
उर देश पर सुखद लक्ष्म प्रियतम के वक्षस्थल का,
रोमाचित सपूर्ण देह पर चिह्न विगत चुम्बन के।

और कभी क्या भूल सकूँगी उन सुरम्य रभसों को,
प्रिय का वह क्रीडन अभग मेरे समस्त अगों से;
रस मे देना बिता मदिर शर्वरी खुली पलको मे
कभी लगा कर मुझे स्निग्ध अपने उच्छ्वसित हृदय से,
कभी बालको-सा मेरे उर मे मुखदेश छिपा कर?

तब फिर आलोड़न निगूढ दो प्राणो की ध्वनियों का,
उनकी वह बेकली विलय पाने की एक अपर में,
शोणित का वह ज्वलन, अस्थियो मे वह चिनगारी-सी,
स्वय विभासित हो उठना पुलकित सपूर्ण त्वचा का,
मानो, तन के अन्धकार की परते टूट रही हो।
और डूब जाना मन का निश्चल समाधि के सुख मे,
किसी व्योम के अन्तराल मे, किसी महासागर मे।
सखि! पृथ्वी का प्रेम प्रभामय कितना दिव्य, गहन है!
विमुग्ध तैरते हुए स्वय अपनी शोणित-धारा में,
क्या जाने, हम किस अदृश्य के बीच पहुँच जाते है।

यह प्रदीप्त आनन्द कहाँ सुरपुर की शीतलता मे?
पारिजात-द्रुम के फूलो मे कहाँ आग होती है?
यह तो यही मर्त्य जगती है, जहाँ स्वर्ग के सुख मे
अन्धकार मे प्रभापूर्ण वातायन खुल पडते है।
जल उठती है प्रणय-वह्नि, बने ही, शान्त हृदय मे,
ज्यो, निद्रित पाषाण जाग कर हीरा बन जाता है।

किन्तु हाय री, [illegible] इन [illegible], [illegible] सुखो की।
[illegible] को भी [illegible] हैं,
[illegible] [illegible] [illegible] उन्हे [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हैं।
[illegible] मैं निर्झर [illegible]

ग्रौर गन्धमादन का वह ग्रनमोल भुवन फूलों का
मृग ही नही, विटप-तृण भी कितने सजीव लगते थे।
पत्र-पत्र को श्रवण वना ग्रटवी कैसे सुनती थी
सूक्ष्म निनद, चुपचाप, हमारे चुम्बन, कल-कूजन का!
झुक ग्राती थी, किस प्रकार, डालियाँ हमे छूने को,
शैलराज, मानो, सपने मे वाँहे वढा रहा हो।
किस प्रकार विचलित हो उठते थे प्रसून कुजों के,
मानो, गन्धपूर्ण साँसो से हमको पी जायेगे।
फेन-फेन होती वह ऊर्मिल हरियाली शिखरों की
ज्वार वाँध, किस भाँति, वादलो को छूने उठती थी?
कैसे वे तटिनियाँ उछलती हुई सुढाल शिला पर
हमे देख चलने लगती थी ग्रौर ग्रधिक इठला कर!

ग्रौर हाय! वह एक निर्झरी पिघले हुए मुक्त-सी,
तीर-द्रुमो की छाया मे कितनी भोली लगती थी!
लगता था, यह चली ग्रा रही जिस पवित्र उद्गम से,
वही कही रहते होंगे नारायण कुटी वना कर।

ग्राह! गन्धमादन का वह सुख ग्रौर ग्रक प्रियतम का!
सखी! स्वर्ग मे जो ग्रलभ्य है, उस ग्रानन्द मदिर का,
इसी सरस वसुधा पर, मैंने छक कर पान किया है।
व्याप गयी जो सुरभि घ्राण मे, सुषमा चकित नयन मे,
रोमाचक सनसनी स्पर्श-सुख की जो समा गयी है
त्वचा-जाल, ग्रीवा, कपोल मे, उँगली की पोरो मे,
धो पायेगा उसे कभी क्या सलिल वियद्-गगा का?
पारिजात-तरु-तले ध्यान मे जगी हुई खोजूंगी
उर देश पर सुखद लक्ष्म प्रियतम के वक्षस्थल का,
रोमाचित सपूर्ण देह पर चिह्न विगत चुम्वन के।

और कभी क्या भूल सकूंगी उन सुरम्य रभसों को,
प्रिय का वह क्रीडन अभग मेरे समस्त अगों से;
रस मे देना विता मदिर शर्वरी खुली पलकों मे
कभी लगा कर मुझे स्निग्ध अपने उच्छ्वसित हृदय से,
कभी वालको-सा मेरे उर मे मुखदेश छिपा कर?

तव फिर आलोड़न निगूढ दो प्राणों की ध्वनियों का,
उनकी वह वेकली विलय पाने की एक अपर मे;
शोणित का वह ज्वलन, अस्थियों मे वह चिनगारी-सी,
स्वय विभासित हो उठना पुलकित सपूर्ण त्वचा का,
मानो, तन के अन्धकार की परते टूट रही हों।
और डूव जाना मन का निश्चल समाधि के सुख मे,
किसी व्योम के अन्तराल मे, किसी महासागर मे।
सखि! पृथ्वी का प्रेम प्रभामय कितना दिव्य, गहन है!
विमुध तैरते हुए स्वय अपनी शोणित-धारा मे,
क्या जाने, हम किस अदृश्य के वीच पहुँच जाते है!

यह प्रदीप्त आनन्द कहाँ सुरपुर की शीतलता मे?
पारिजात-द्रुम के फूलो मे कहाँ आग होती है?
यह तो यही मर्त्य जगती है, जहाँ स्पर्श के सुख से
अधकार मे प्रभापूर्ण वातायन खुल पड़ते है।
जल उठती है प्रणय-वह्नि, वैसे ही, शान्त हृदय मे,
ज्यो, निद्रित पाषाण जाग कर हीरा वन जाता है।

किन्तु, हाय री, नश्वरता इन अतुल, अमेय सुखों की!
अमर वना कर उन्हे भोगना मुझ को भी दुष्कर है,
यद्यपि मै निर्जर, अमर्त्य, शाश्वत, पीयूपमयी हूँ।

भरत-शाप, जाने, आकर कितना अदूर ठहरा है
घात लगाये हुए, एक ही आकस्मिक झटके मे,
पृथ्वी से मेरा सुखमय सम्बन्ध काट देने को!

जो भी करूँ सखी! पर, वह दिन आने ही वाला है,
छिन जायेगा जब समस्त सौभाग्य एक ही क्षण मे।
उड़ जाऊँगी छोड़ भूमि पर सुख समस्त भूतल का,
जैसे आत्मा देह छोड अम्बर मे उड जाती है।
हाय! अन्त मे, मुझ अभागिनी शाप-ग्रस्त नारी को
न तो प्राणप्रिय पुत्र, न तो प्रियतम मिलनेवाले है।

चित्रलेखा

भरत-शाप दुस्सह, दुरन्त, कितना कटु, दुखदायी है!
क्षण-क्षण का यह त्रास सखी! कब तक सहती जाओगी
उस छागी-सी, सतत भीति-कपित जिसकी ग्रीवा पर
यम की जिह्वा के समान खर छुरिका झूल रही हो?

शिशु को, किसी भाँति, पहुँचा कर प्रिय के राजभवन मे
अच्छा है तुम लौट चलो, आज ही रात, सुरपुर को।

माना, नही उपाय शाप से कभी त्राण पाने का,
पर, उसके भय की प्रचडता से तो बच सकती हो।

और अप्सरा संततियो का पालन कब करती है?

उर्वशी

यों बोलो मत सखी! भूमि के अपने अलग नियम है।
सुख है जहाँ, वही दुख वातायन से झाँक रहा है।
यहाँ जहाँ भी पूर्ण स्वरस है, वही निकट खाई मे
दाँत पजाती हुई घात मे छिपी मृत्यु बैठी है।

जो भी करता सुधा-पान, उसको रखना पड़ता है
एक हाथ रस के घट पर, दूसरा मरण-ग्रीवा पर।
फिर मैं ही क्यो उसे छोड़ दूं भीत अनागत भय से?

आयु रहेगा यही, दूसरी कोई राह नही है।

सुकन्या

चित्रे! सखी उचित कहती है, इस निरीह पयमुख को
अभी भेजना नही निरापद होगा राज-भवन मे।
रानी जितनी भी उदार, कुलपाली, दयामयी हों,
विमातृत्व का हम वामा विश्वास नही करती हैं।

दो, उर्वशी! इसे मुझको दो, मैं इसको पालूँगी।

[उर्वशी की गोद से आयु को ले लेती है
और उसे पुचकारते हुए बोलती जाती है।]

यह आश्रम की ज्योति, इन्दु नन्हाँ इस पर्ण-कुटी का,
सखी! तुम्हारा लाल हमारी आँखों का तारा है।

घुटनो के बल दौड-दौड मेरा मुन्ना पकडेगा
कभी हरिण के कान, कभी डैने कपोत-केकी के।

और खडा हो कर चलते ही बड़ी रार रोपेगा
शशको, गिलहरियो, प्लवग-शिशुओं, कुरग-छौनों से।

फिर कुछ दिन मे और तनिक बढ़ कर प्रति दिन जायेगा
होमधेनुओ को ले कर गोचर-अनुकूल विपिन मे।

और साझ के समय चरा कर उन्हे लौट आयेगा
सिर पर छोटा बोझ लिये कुश, दर्भ और समिधा का।

फिर पवित्र हो कर, महर्षि के साथ यज्ञ-वेदी पर
बैठ हमारा लाल मंत्र पढ-पढ कर हवन करेगा।

हवन-धूम से आँखों मे जब वाष्प उमड़ आयेंगे,
तब मै दोनो नयन पोंछ दूंगी अपने अचल से।

शस्त्र-शास्त्र-निष्णात, अंग से बली, विभासित मन से,
जब अपना यह आयु पूर्ण कैशोर प्राप्त कर लेगा,
पहुँचा दूंगी स्वयं इसे ले जा कर राज-भवन मे।

तब तक जा, पीयूष पान कर तू मृण्मयी मही का,
चिंता-रहित, अशक, आयु को कोई त्रास नही है।

उर्वशी

तो मै चली।

सुकन्या

कहाँ? बँधने को प्रिय के आलिंगन मे?

उर्वशी

उस बन्धन मे तो अब केवल तन ही बँधा करेगा;
प्राणों को तो यही तुम्हारे घर छोड़े जाती हूँ।

"पुत्र और पति नही, पुत्र या केवल पति पाओगी?"
सखी! सत्य ही, ये विकल्प दारुण, दुरंत, दुस्सह हैं।

अब मत डाले भाग्य किसी को ऐसी कठिन विपद मे।

[उर्वशी और चित्रलेखा का प्रस्थान]

पंचम अङ्क

अहमपि तव सूनावद्य विन्यस्य राज्यम्
विचरितमृगयूथान्याश्रयिष्ये वनानि।

—विक्रमोर्वशीयम्

क्रन्दन्स देशदेशेषु बभ्राम नृपतिः स्वयं।

—देवीभागवत

अवेत्य शापदोषं तं सोऽथ गत्वा पुरूरवा
हरेराराधनं चक्रे ततो बदरिकाश्रमे।

—कथासरित्सागर
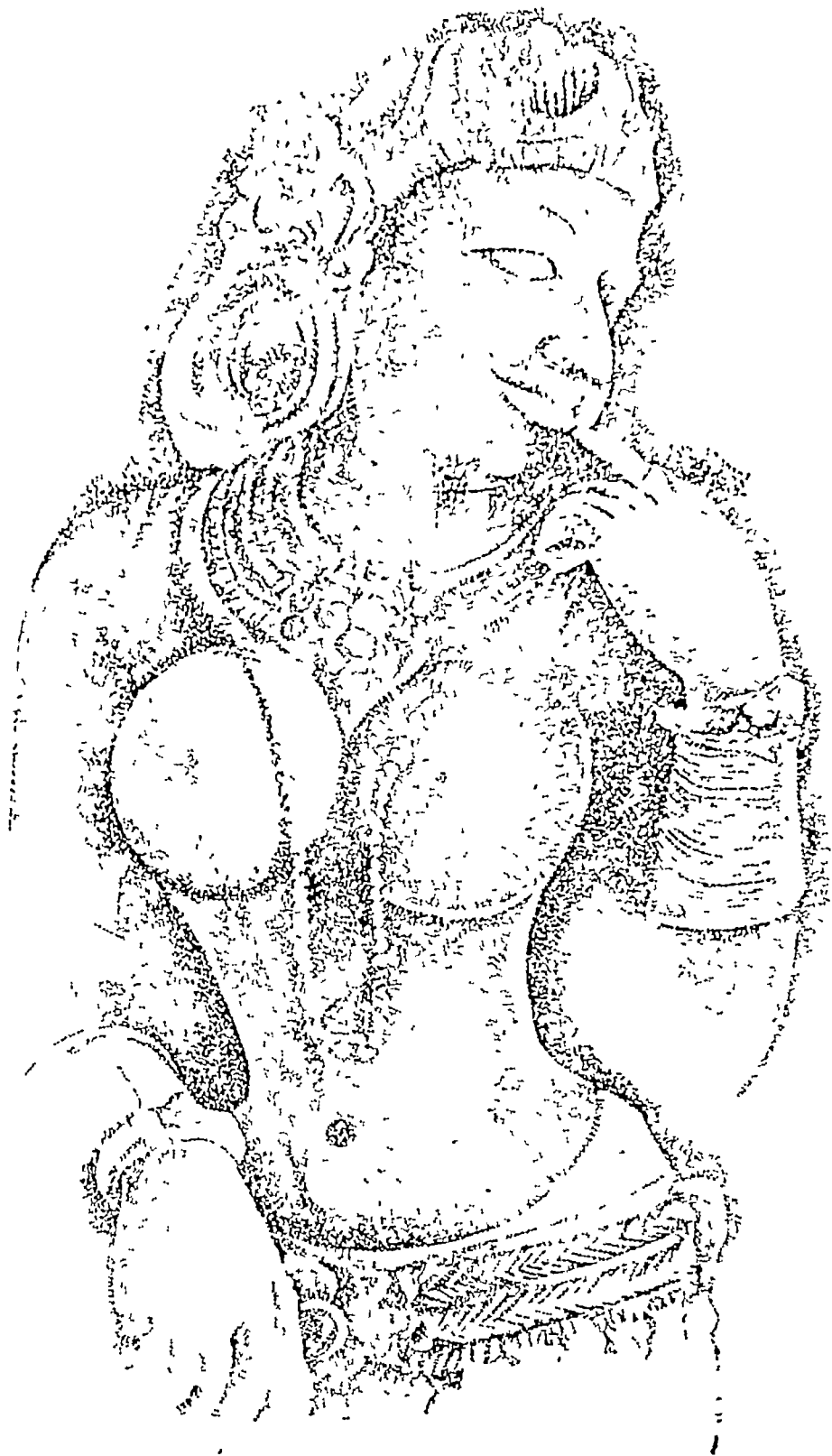
विपद्व्याधिनी भी जीवन में तुझ को कहीं मिली थी ?

[पृष्ठ १५०]

स्थान—पुरूरवा का राजप्रासाद

[पुरूरवा, उर्वशी, महामात्य, राज-पण्डित, राज-ज्योतिषी, अन्य सभासद, परिचारक और परिचारिकाएँ यथास्थान बैठे या खडे। राजा की मुद्रा अत्यत चिताग्रस्त। आरम्भ मे, कई क्षणो तक, कोई कुछ नही बोलता।]

महामात्य

देव! क्षमा हो कुतुक, महामह के विशाल नयनो मे,
देख रहा हूँ, आज नयी चिन्ता कुछ घुमड रही है।
महाराज जब से आये है, मूक, विपण्ण, अचल है।
सुखदायक कल रोर रोक, निस्पन्द किये लहरों को
महासिन्धु क्यो, इस प्रकार, अपने मे डूब गया है?
सभा सन्न है, कौन विपद हम पर आनेवाली है?

पुरूरवा

कुशल करे अर्यमा, मरुद्गण उतर व्योम-मडल से
अभिषुत सोम ग्रहण करने को आते रहे भुवन मे।
वरुण रखे प्रज्वलित निरन्तर आहवनीय अनल को,
रहे दृष्टि हम पर अभीष्ट-वर्षी अमोघ मघवा की।

सभासदो! कल रात स्वप्न मैंने विचित्र देखा है।

सभी सभासद

स्वप्न!

पुरूरवा

स्वप्न ही कहो, यदपि, मेरे मन की आँखों के
आगे, अब भी, सभी दृश्य वैसे ही घूम रहे है,
जैसे, सुप्ति और जागृति के धूमिल, द्वाभ क्षितिज पर
मैंने उन्हे सत्य, चेतन, सुस्पष्ट, स्वच्छ देखा था।

कितनी अद्‌भुत कथा! दृश्य वह मानस की छलना थी?
या जो मुद्रित पृष्ठ अभी आगे खुलने वाले है,
देख गया हूँ उन्हे रात निद्रित भविष्य मे जा कर?

कौन कहे, जिसको देखा, वह सारहीन सपना था
या कि स्वप्न है वह जिसको अब जग कर देख रहा हूँ?
क्या जाने, जागरण स्वप्न है या कि स्वप्न जागृति है?

महामात्य

बडी विलक्षण बात! देव ने ऐसा क्या देखा है,
जिससे जागृति और स्वप्न की दूरी विला रही है,
परछाईं पड़ रही अनागत की आगत के मुख पर,
मुँदी हुई पोथी भविष्य की उन्मीलित लगती है?
देव दया कर कहे स्पष्ट, दुश्चित्य स्वप्न वह क्या था?
अश्विद्वय की कृपा, विघ्न जो भी हों, टल जायेगे।

पुरूरवा

कौन विघ्न किसका? जो है, जो अब होनेवाला है,
सब है बद्ध निगूढ एक ऋत के शाश्वत धागे मे;
कहो उसे प्रारब्ध, नियति या लीला सौम्य प्रकृति की।
बीज गिरा जो यहाँ, वृक्ष बन कर अवश्य निकलेगा।

किन्तु, भीत मै नही; गर्त के अतल, गहन गह्वर मे
जाना हो तो उसी वीरता से प्रदीप्त जाऊँगा
जैसे ऊपर विविध व्योम-लोको मे घूम चुका हूँ।

भीति नही यह मौन, मूकता मे यह सोच रहा हूँ,
अब की बार भविष्य कौन-सा वेष लिये आता है।

महामात्य

महाराज का मन बलिष्ठ; सकल्प-शुद्ध अन्तर है।
जिसकी बाँहो के प्रसाद से सुर अचित रहते है,
उस अजेय के लिए कहाँ है भय द्यावा-पृथ्वी पर?

प्रभु अभीक ही रहे, किन्तु, हे देव! स्वप्न वह क्या था
जिसकी स्मृति अब तक निषण्ण है स्वामी के प्राणों मे?

मन के अलस लेख सपने निद्रा की चित्र-पटी पर
जल की रेखा के समान बनते-बुझते रहते है।

पुरूरवा

देखा, सारे प्रतिष्ठानपुर में कलकल छाया है,
लोग कही से एक नव्य वट-पादप ले आये है।
और रोप कर उसे सामने, वहाँ, बाह्य प्रागण मे
सीच रहे है बडी प्रीति, चिताकुल आतुरता से।

मै भी लिये क्षीरघट, देखा, उत्कठित आया हूँ;
और खडा हूँ सीच दूध से उस नवीन बिरवे को।
मेरी ओर, परन्तु, किसी नागर की दृष्टि नही है,
मानो, मै हूँ जीव नवागत अपर सौर मंडल का,
नगर-वासियो की जिससे कोई पहचान नही हो।

तब देखा, मै चढा हुआ मदकल, वरिष्ठ कुजर पर
प्रतिष्ठानपुर से बाहर कानन मे पहुँच गया हूँ।
किन्तु, उतर कर वहाँ देखता हूँ तो सब सूना है,
मुझे छोड, चोरी से, मेरा गज भी निकल गया है।

एकाकी, नि.सग भटकता हुआ विपिन निर्जन मे
जा पहुँचा मै वहाँ जहाँ पर वधूसरा बहती है,
च्यवनाश्रम के पास, पुलोमा की दृगम्बु-धारा सी।

उर्वशी

च्यवनाश्रम! हा! हन्त! अपाले, मुझे घूंट भर जल दे।

[अपाला घबरा कर पानी देती है। उर्वशी पानी पीती है।]

पुरूरवा

देवि! आप क्यों सहम उठी? वह, सचमुच, च्यवनाश्रम था।
ऋषि तरु पर से अपने सूखे वसन समेट रहे थे।
घूम रहे थे कृष्णसार मृग अभय वीथि-कुजों मे,
श्रवण कर रहे थे मयूर तट पर से कान लगा कर
मेघमन्द्र डुग-डुग-ध्वनि जलधारा मे घट भरने की।
और, पास ही, एक दिव्य बालक प्रशान्त बैठा था
प्रत्यचा माँजते वीर-कर-शोभी किसी धनुष की।
हाय, कहूँ क्या, वह कुमार कितना सुभव्य लगता था!

उर्वशी

दुर्विपाक! दुर्भाग्य! अपाले! तनिक और पानी दे।
उमड़ प्राण से, कही कण्ठ मे, ज्वाला अटक गयी है।
लगता है, आज ही प्रलय अम्बर से फूट पड़ेगा।

[पानी पीती है।]

पुरूरवा

देवि! स्वप्न से आप अकारण भीत हुई जाती है।
मैं हूँ जहाँ, वहाँ कैसे विध्वस पहुँच सकता है?
भूल गयी, स्यन्दन मेरा नभ मे अबाध उड़ता है?
मैं तो केवल ऋषि-कुमार का तेज वखान रहा था।

ऊरु-दण्ड परिपुष्ट, मध्य कृश, पृथुल, प्रलम्ब भुजाएँ,
वक्षस्थल उन्नत, प्रशस्त कितना सुभव्य लगता था!
उषा-विभासित उदय-शैल की, मानो, स्वर्ण-शिला हो।

उफ री, पय शुभ्रता उन आयत, अलक्ष्म नयनों की!
प्राण विकल हो उठे दौड कर उसे भेट लेने को।
पर, तत्क्षण सब विला गया, जाने, किस शून्य तिमिर मे!
न तो वहाँ अब ऋषि-कुमार था, न तो कुटीर च्यवन का।

देखा जिधर, उधर डालो, टहनियों, पुष्प-वृतो पर
देवि! आपका यही कुसुम-आनन जगमगा रहा था
हँसता हुआ, प्रहृष्ट, सत्य ही, सद्य स्फुटित कमल-सा।
किन्तु, हाय! दुर्भाग्य! जिधर भी वढा स्पर्श करने को,
डूब गया वह छली पुष्प पत्तों की हरियाली मे।

चकित, भीत, विस्मित, अधीर तव मैं निरस्त माया से,
अकस्मात् उड गया छोड अवनीतल ऊर्ध्व गगन मे,
और तैरता रहा, न जाने, कव तक खड-जलद-सा।
जगा, अन्त को, जव विभावरी पूरी वीत चुकी थी।

वह वालक था कौन? कौन मुझ को छलने आयी थी
दिखा उर्वशी का प्रसन्न आनन डाली-डाली मे?

महामात्य

महाश्चर्य !

एक सभासद

विस्मय अपार !

दूसरा सभासद

यह स्वप्न या कि कविता है
उज्ज्वलता म रमे, रूप-ध्यायी, रस-मग्न हृदय की ?
और उड्डयन तो नैतिक उन्नति की ही महिमा है।
जो हो, मै मगल की शुभ सूचना इसे कहता हूँ।

तीसरा सभासद

शान्ति ! ज्योतिषी विश्वमना गणना मे लगे हुए है।
सुनें, सिद्ध दैवज्ञ स्वप्न का फल क्या बतलाते है।

विश्वमना

हाय, इसी दिन के निमित्त मै जीवित बचा हुआ था ?
महाराज ! यदि कहूँ सत्य तो गिरा व्यर्थ होती है।
मृषा कहूँ तो क्यों अब तक आदर पाता आया हूँ ?
मुझ विमूढ को अत, देव ! मौन ही आज रहने दे;
क्योंकि दीखता है जो कुछ, उसका आधार नही है।

पुरूरवा

किसका है आधार लुप्त ? क्या है परिणाम गणित का ?
यह प्रहेलिका और अधिक उत्कंठा उपजाती है।
कहे आप सकोच छोड कर, जो कुछ भी कहना हो,
गणित मृषा हो भले, आपको मिथ्या कौन कहेगा ?

विश्वमना

वरुण करे कल्याण। देव! तब सुने, सत्य कहता हूँ।
अमिट प्रव्रज्या-योग केन्द्र-गृह मे जो पड़ा हुआ है,
वह आज ही सफल होगा, इसलिए कि प्राण-दशा मे
शनि ने किया प्रवेश, सूक्ष्म मे मगल पड़े हुए हैं।

अन्य योग जो है, उनके अनुसार, आज संध्या तक
आप प्रव्रजित हो जायेंगे अपने वीर तनय को
राज-पाट, धन-धाम सौप, अपना किरीट पहना कर।

पर, विस्मय की बात! पुत्र वह अभी कहाँ जनमा है?
अच्छा है, पुत जाय कालिमा ही मेरे आनन पर;
लोग कहे, मर गयी जीर्ण हो विद्या विश्वमना की।
इस अनभ्र आपद से तो अपकीर्त्ति कही सुखकर है।

उर्वशी

आह! क्रूर अभिशाप! तुम्हारी ज्वाला बडी प्रबल है।
अरी, जली, मै जली, अपाले! और तनिक पानी दे।
महाराज! मुझ हतभागी का कोई दोष नही है।

[पानी पीती है। दाह अनुभूत होने के भाव।]

पुरूरवा

किसका शाप? कहाँ की ज्वाला? कौन दोष? कल्याणी!
आप खिन्न हो कर निज को हतभागी क्यो कहती है?
कितना था आनन्द गन्धमादन के विजन विपिन मे!
छूट गयी यदि पुरी, सग हो कर हम वहीं चलेंगे।
आप, न जाने, किस चिन्ता मे चूर हुई जाती है!
कभी आपको छोड देह यह जीवित रह सकती है?

[प्रतीहारी का प्रवेश]

प्रतीहारी

जय हो महाराज! वन से तापसी एक आयी है;
कहती है, स्वामिनी उर्वशी से उनको मिलना है।
नाम सुकन्या, एक ब्रह्मचारी भी साथ लगा है।

पुरूरवा

सती सुकन्या! कीर्त्तिमयी भामिनी महर्षि च्यवन की?
सादर लाओ उन्हे, स्वप्न अब फलित हुआ लगता है।
पुण्योदय के बिना सत कब मिलते है राजा को?

[सुकन्या और आयु का प्रवेश]

पुरूरवा

इलापुत्र मैं पुरू पदों मे नमस्कार करता हूँ।
देवि! तपस्या तो महर्षिसत्तम की वर्धमती है?
आश्रम-वास अविघ्न, कुशल तो है अरण्य-गुरुकुल मे?

सुकन्या

जय हो, सब है कुशल।
उर्वशी! आज अचानक ऋषि ने
कहा, "आयु को पितृ-गेह आज ही गमन करना है।
अत:, आज ही, दिन रहते-रहते, पहुँचाना होगा,
जैसे भी हो, इस कुमार को निकट पिता-माता के।"

सो, ले आयी, अकस्मात् ही, इसे, सुयोग नही था
पूर्व-सूचना का या इसको और रोक रखने का।

सोलह वर्ष पूर्व तुमने जो न्यास मुझे सौंपा था,
उसे आज सक्षेम सखी! तुम को मैं लौटाती हूँ।

बेटा! करो प्रणाम, यही है माँ, वे देव पिता है।

[आयु पहले उर्वशी को, फिर पुरूरवा को प्रणाम
करता है। पुरूरवा उसे छाती से लगा लेता है।]

पुरूरवा

महाश्चर्य! अघटन घटना! अद्भुत, अपूर्व लीला है!
यह सब सत्य-यथार्थ या कि फिर सपना देख रहा हूँ?

पुत्र! देवि! मैं पुत्रवान् हूँ? यह अपत्य मेरा है?
जनम चुका है मेरा भी त्राता पु नाम नरक से?

अकस्मात् हो उठा उदित यह सचित पुण्य कहाँ का?
अमृत-अभ्र कैसे अनभ्र ही मुझ पर बरस पडा है?

पुत्र! अरे, मैं पुत्रवान् हूँ, घोषित करो नगर मे,
जो हो जहाँ, वहीं से मेरे निकट उसे आने दो।

द्वार खोल दो कोष-भवन का, कह दो पौर जनों से,
जितना भी चाहे, सुवर्ण आ कर ले जा सकते है।

ऐल वश के महा मच पर नया सूर्य निकला है;
पुत्र-प्राप्ति का लग्न, आज अनुपम, अबाध उत्सव है।

पुत्र! अरे, कोई सँभाल रक्खो मेरी संज्ञा को,
न तो, हर्ष से अभी विकल-विक्षिप्त हुआ जाता हूँ।

पुत्र ! अरे, ओ अमृत-स्पर्श ! आनन्द-कंद नयनों के !
प्राणों के आलोक ! हाय ! तुम अब तक छिपे कहाँ थे ?

ऐल वंश का दीप, देवि ! यह कब उत्पन्न हुआ था ?
और आपने छिपा रखा इसको क्यों निष्ठुरता से ?
हाय ! भोगने से मेरा कितना सुख छूट गया है !

उर्वशी

अब से सोलह वर्ष पूर्व, पुत्रेष्टि-यज्ञ पावन मे
देव ! आप यज्ञिय विशिष्ट जीवन जब बिता रहे थे,
च्यवनाश्रम की तपोभूमि मे तभी आयु जनमा था
मुझ में स्थापित महाराज के तेजपुंज पावक से।

किन्तु, छिपा क्यों रखा पुत्र का मुख पुत्रेच्छु पिता से,
आह ! समय अब नही देव ! वह सब रहस्य कहने का।
लगता है, कोई प्राणों को वेध लौह अंकुश से,
बरबस मुझे खींच इस जग से दूर लिये जाता है।

पुरूरवा

अच्छा, जो है गुप्त, गुप्त ही उसे अभी रहने दे।
आतुरता क्या हो रहस्य के उद्घाटित करने की,
जब रहस्य वपुमान् सामने ही साकार खडा हो ?

सभासदो ! कल रात स्वप्न में इसी वीर-पुंगव को
प्रत्यंचा माँजते हुए मैंने वन में देखा था।
और बढा ज्यों ही उदग्र मै इसे अंक भरने को,
यही दुष्ट छल मुझे कही कुंजों मे समा गया था।

किन्तु, लाल! अब आलिगन से कैसे भाग सकोगे?
यह प्रसुप्त का नही, जगे का सुदृढ वाहु-बन्धन है।

आयु

अब तक रहा वियुक्त अक से, यही क्लेश क्या कम है?
तात! आपकी छाँह छोड़ मै किस निमित्त भागूंगा?
जब से पाया जन्म, उपोषण रहा धर्म प्राणों का,
हृदय भूख से विकल, पिता! मै बहुत-बहुत प्यासा हूँ,
यद्यपि सारी आयु तापसी माँ का प्यार पिया है।

पुरूरवा

रुला दिया तुम ने तो मेरे चन्द्र! व्यथा यह कह कर।
सुना देवि! यह लाल हमारा कितना तृषित रहा है
माँ के उर का क्षीर, पिता का स्नेह नही पाने से?

[उर्वशी अदृश्य हो चुकी है।]

महामात्य

महाराज! आश्चर्य! उर्वशी देवी यहाँ नही है?
कहाँ गयी? थी खडी अभी तो यही निकट स्वामी के?

पुरूरवा

क्यो? जायेगी कहाँ विमुख हो इस आनन्द सघन से?
किन्तु, अभी वे श्रान्त-चित्त, कुछ थकी-थकी लगती थीं,
जा कर देखो, स्यात्, प्रमद-उपवन मे चली गयी हो
शीतल, स्वच्छ, प्रसन्न वायु मे तनिक घूम आने को।

सुकन्या

वृथा यत्न, इस राज-भवन मे अब उर्वशी नही है।
चली गयी वह वहाँ, जहाँ से भूतल पर आयी थी
खिंची आपके महा प्रेम के आकुल आकर्षण मे।
भू वंचित हो गयी आज उस चिर-नवीन सुषमा से।

महाराज! उर्वशी मानवी नही, देव-बाला थी,
चक्षुराग जब हुआ आपसे, उस विलोल-हृदया ने,
किसी भाँति, कर दिया एक दिन कुपित महर्षि भरत को।
और भरत ने ही उसको यह दारुण शाप दिया था,

"भूल गयी निज कर्म लीन जिसके स्वरूप-चिन्तन मे,
जा, तू बन प्रेयसी भूमि पर उसी मर्त्य मानव की।
किन्तु, न होंगे तुझे सुलभ सब सुख गृहस्थ नारी के,
पुत्र और पति नही, पुत्र या केवल पति पायेगी,
सो भी तब तक ही जिस क्षण तक नही देख पायेगा
अहंकारिणी! तेरा पति तुझ से उत्पन्न तनय को।"

वही शाप फल गया, उर्वशी चली गयी सुरपुर को।
महाराज! मैं तो इसके हित उद्यत ही आयी थी।
क्योंकि ज्ञात था मुझे, आयु को जभी आप देखेंगे,
गरज उठेगा शाप, उर्वशी भू पर नही रहेगी।
किन्तु, आयु को कब तक हम वंचित कर रख सकते थे
जाति, गोत्र, सौभाग्य, वंश से, परिजन और पिता से?

हुआ वही, जो कुछ होना था, पश्चात्ताप वृथा है।
अब दीजिये आयु को वह, जो कुछ वह माँग रहा है।
महाराज! सत्य ही, आयु का हृदय बहुत प्यासा है।

[पुरूरवा आयु से अलग हो जाता है।]

पुरूरवा

चली गयी ? सब शून्य हो गया ? मैं वियुक्त, विरही हूँ ?
देवों को मेरे निमित्त, बस, इतनी ही ममता थी !

लाओ मेरा धनुष, सजाओ गगन-जयी स्यन्दन को,
सखा नही, बन शत्रु स्वर्ग-पुर मुझे आज जाना है।
और दिखाना है, दाहकता किसकी अधिक प्रबल है,
भरत-शाप की या पुरूरवा के प्रचड बाणों की।

कहाँ छिपा रक्खेगे सुर मेरी प्रेयसी प्रिया को ?
रत्नसानु की कनक-कन्दरा मे ? तो उस पर्वत को
स्वर्ण-धूलि बन वसुन्धरा पर आज बरस जाना है
छिन्न-भिन्न हो कर मनुष्य के प्रलय-दीप्त बाणों से।

दिव के वियल्लोक मे छाये विपुल स्वर्ण-मेघो मे ?
तो मेघों के अन्तराल हो कर अरुद्ध शम्पा-सा
दौडेगा मेरा विमान कपित कर प्राण सुरों के,
और उलट कर एक-एक मायामय मेघ-पटल को
खोजूंगा, उर्वशी व्योम के भीतर कहाँ छिपी है।

लाओ मेरा धनुष, यही से वाण साध अम्वर मे
अभी देवताओं के वन मे आग लगा देता हूँ।
फेक प्रखर, प्रज्वलित, वह्निमय विशिख दृप्त मघवा को
देता हूँ नैवेद्य मनुजता के विरुद्ध सगर का।

और सिन्धु मे कही उर्वशी को फिर छिपा दिया हो,
तो साजो विकराल सैन्य, हम आज महासागर को
मथ कर देगे हिला, सिन्धु फिर पराभूत उगलेगा

वे सारे मणि-रत्न, बने होंगे जो भी उस दिन से,
जब देवों-असुरों ने इसको पहले पहल मथा था।

और उसी मथन-क्रम में बैठी तरग-आसन पर
एक बार फिर पुन. उर्वशी निकलेगी सागर से
बिखराती मोहिनी उषा की प्रभा समस्त भुवन मे,
जैसे वह पहले समुद्र के भीतर से निकली थी।

भूल गये देवता, झेल शत्रुता अमित असुरों की
कितनी बार उन्हे मैंने रण मे जय दिलवायी है।
पर, इस बार ध्वस बन कर जब मैं उनपर टूटूंगा,
आशा है, आप्रलय दाह विशिखों का स्मरण रहेगा,
और मान लेगे यह भी, उर्वशी कही जनमी हो,
देवों की अप्सरा नही, वह मेरी प्राणप्रिया है।

उठो, बजाओ पटह युद्ध के, कह दो पौर जनों से,
उनका प्रिय सम्राट स्वर्ग से वैर ठान निकला है;
साथ चले, जिसको किंचित् भी प्राण नही प्यारे हो।

महामात्य

महाराज हों शान्त, कोप यह अनुचित नही, उचित है।
तारा को लेकर पहले भी भीषण समर हुआ था
दो पक्षों मे बँटे, परस्पर कुपित सुरो-असुरो मे।
और सुरों के, उस रण मे भी, छक्के छूट गये थे।

वह सब होगा पुन:, यही यदि रहा इष्ट स्वामी का।
पर, यद्यपि, यह समर खडा होगा मानवो-सुरों मे,
किन्तु, दनुज क्या इस अपूर्व अवसर से अलग रहेंगे?
मिल जायेंगे वे अवश्य आ कर मनुष्य-सेना मे।

सुरता के ध्वंसन से बढ कर उन्हे और क्या प्रिय है ?
और टिकेंगे किस बूते पर चरण देवताओं के
वहाँ, जहाँ नर-असुर साथ मिल उनसे जूझ रहे हो ?

इस सगर मे महाराज ! जय तो अपनी निश्चित है;
मात्र सोचना है, देवों से वेर ठान लेने पर
पड़ न जायँ हम कही दानवो की अपूत सगति मे।

नर का भूषण विजय नही, केवल चरित्र उज्ज्वल है।
कहती है नीतियाँ, जिसे भी विजयी समझ रहे हो,
नापो उसे प्रथम उन सारे प्रकट, गुप्त यत्नों से,
विजय-प्राप्ति-क्रम मे उसने जिनका उपयोग किया है।

डाल न दे शत्रुता सुरों से हमे दनुज-बाँहो मे,
महाराज ! मैं, इसीलिए, देवों से घबराता हूँ।

पुरूरवा

कायरता की वात ! तुम्हारे मन को सता रही है
भीति इन्द्र के निठुर वज्र की, देवो की माया की;
किन्तु, उसे तुम छिपा रहे हो सचिव ! ओढ ऊपर से
मिथ्या वसन दनुज-सगति-कल्पना-जन्य दूषण का।

जव मनुष्य चीखता, व्योम का हृदय दरक जाता है,
सहम-सहम उठते सुरेन्द्र उसके तप की ज्वाला से।
और कही हो क्रुद्ध मनुज कर दे आह्‌वान प्रलय का,
स्वर्ग, सत्य ही, टूट गगन से भू पर आ जायेगा।
क्यो लेगे साहाय्य दनुज का ? हम मनुष्य क्या कम है ?

वजे युद्ध का पटह, सिद्ध हो द्रुत योजना समर की।
यह अपमान असह्य, इसे सहने से श्रेष्ठ मरण है।

[नेपथ्य से आवाज आती है ।]

पीना होगा गरल, वेदना यह सहनी ही होगी।
सावधान! देवों से लडने मे कल्याण नही है।
देव कौन है? शुद्ध, दग्धमल, श्रेष्ठ रूप मानव के,
तो अपने ही श्रेष्ठ रूप से मानव युद्ध करेगा
या उससे जो रूप अभी दानवी, दुष्ट, अमलिन है?

पुरूरवा

यह किसका स्वर? कौन यवनिकाओ मे छिपा हुआ है?
जो भी होती घटित आज, अचरज की ही घटना है।
बड़ी अनोखी बात! कौन हो तुम, जो बोल रहे हो
इतने सूक्ष्म विचार? छिपे हो कहाँ, भूमि या नभ मे?

[नेपथ्य से आवाज़]

मै प्रारब्ध चंद्रकुल का, सचित प्रताप तेरा हूँ,
बोल रहा हूँ तेरे ही प्राणो के अगम, अतल से।

अनुचित नही गर्व क्षणभगुर वर्त्तमान की जय का,
पर, अपने मे डूब कभी यह भी तू ने सोचा है,
तेरे वर्त्तमान मन पर जिनका भविष्य निर्भर है,
अनुत्पन्न उन शत-सहस्र मनुजों के मुखमडल पर
कौन विम्ब, क्या प्रभा, कौन छाया पडती जाती है?

जैसे तू ने प्रणय-तूलिका और लौह-विशिखों से
ओजस्वी आख्यान आत्मजीवन का आज लिखा है,
वैसे ही, कल चंद्रवश वालो के विपुल हृदय मे
लौह और वासना समन्वित हो कर नृत्य करेगे।

अतुल पराक्रम के प्रकाश मे भी यह नही छिपेगा,
ताराहर विधु के विलास से ये मनुष्य जनमे है।

चिन्तन कर यह जान कि तेरे क्षण-क्षण की चिन्ता से
दूर-दूर तक के भविष्य का मनुज जन्म लेता है।
उठा चरण यह सोच कि तेरे पद के निक्षेपो की
आगामी युग के कानो मे ध्वनियाँ पहुँच रही है।

और प्रेम ? वह बना नही क्यों अश्रुधार करुणा की,
आराधन उन दिव्य देवता का, जो छिपे हुए है
रमणी के लावण्य, रमा-मुख के प्रकाश-मडल मे ?
वना नही क्यो वह अखड आलोक-पुज जीवन का,
जिसे लिये तू और व्योम मे ऊपर उठ सकता था ?

अरुण अधर, रक्तिम कपोल, कुसुमासव घूर्ण दृगों में,
आमत्रण कितना असह्य माया-मनोज्ञ प्रतिमा का !
ग्रीवा से आकटि समन्त उद्वेलित शिखा मदन की,
आलोडित उज्ज्वल असीमता-सी सपूर्ण त्वचा मे;
वक्ष प्रतीप कमल, जिन पर दो मूँगे जडे हुए हैं;
त्रिवली किसी स्वर्ण-सरसी मे उठती हुई लहर-सी।
किन्तु, नही श्लथ हुईं भुजाएँ किन विक्रमी नरों की
आलिगन मे इस मरीचिका को समेट रखने मे ?
पृथुल, निमत्रण-मधुर, स्निग्ध, परिणत, विविक्त जघनों पर
आकर हुआ न ध्वस्त कौन हतविक्रम असृक्-स्रवण से ?

जिसने भी की प्रीति, वही अपने विदीर्ण प्राणों मे
लिये चल रहा व्रण, शोणितमय तिलक प्रेम के कर का;
और चोट जिसकी जितनी ही अधिक, घाव गहरा है,
वह उतना ही कम अधीर है व्यथा-मुक्ति पाने को।

नारी के भीतर असीम जो एक और नारी है,
सोचा है, उसकी रक्षा पुरुषो मे कौन करेगा?
वह, जो केवल पुरुष नही, है किंचित् अधिक पुरुष से,
उर मे जिसके सलिल-धार, निश्चल महीध्र प्राणों मे,
कलियों की उँगलियाँ, मुट्ठियाँ है जिसकी पत्थर की।

कह सकता है पुरू! कि तू पुरुषाधिक यही पुरुष है?
तो फिर भीतर देख, शिलोच्चय शिखर-शैल मानस का
अचल खडा है या प्रवात-ताडन से डोल रहा है?
यह भी देख, भुजा कुसुमों का दाम कि वज्र-शिला है?
हाथों मे फूल ही फूल है या कुछ चिनगारी भी?

विपद्व्याधिनी भी जीवन मे तुझ को कही मिली थी?
पूछा जब तू ने भविष्य, उसने क्या बतलाया था?
त्रिया! हाय, छलना मनोज्ञ वह! पुरुष मग्न हँसता है,
जब चाहिए उसे रो उठना कंठ फाड़, चिल्ला कर।

पूछ रहा क्या भाग्य ज्योतिषी से, अगविद, गणक से?
हृदय चीर कर देख, प्राण की कुंजी वही पडी है।
अन्तर्मन को जगा पूछ, वह जो सकेत करेगा,
तुझे मिलेगी मन शान्ति उपवेशित उसी दिशा मे।

बिना चुकाये मूल्य जगत् मे किसने सुख भोगा है?
तुझ पर भी है पुरू! शेष जो ऋण अपार जीवन का,
भाग नही सकता तू उसको किसी प्रकार पचा कर।

नही देखता, कौन तरेरे नयन समक्ष खडा है?
पुरूरवा! यह और नही कोई, तेरा जीवन है।

जो कुछ तू ने किया प्राप्त अब तक इसके हाथों से,
देना होगा मूल्य आज गिन-गिन उन सभी क्षणों का।

पर, कैसे? जा स्वर्ग उर्वशी को फिर ले आयेगा?
अथवा अपने महा प्रेम के बलशाली पखो पर
चढ असीम उड्डयन भरेगा मन के महा गगन मे,
जहाँ त्रिया कामिनी नही, छाया है परम विभा की,
जहाँ प्रेम कामना नही, प्रार्थना, निदिध्यासन है?

खोज रहा अवलब? किन्तु, बाहर इस ज्वलित द्विधा का
कोई उत्तर नही। पुन. मै वही बात कहता हूँ,
हृदय चीर कर देख, वही पर कुजी कही पड़ी है।

पुरूरवा

देख लिया। मंत्रियो! एक क्षण का भी समय नहीं है;
कहो, पुरोहित करे स्वस्ति-वाचन शुभ राजतिलक का।
विश्वमना का फलादेश चरितार्थ हुआ जाता है।

मृषा वन्ध विक्रम-विलास का, मृषा मोह माया का,
इन दैहिक सिद्धियों, कीर्त्तियों के कंचनावरण मे,
भीतर ही भीतर, विषण्ण मै कितना रिक्त रहा हूँ!
अन्तरतम के रुदन, अभावो की अव्यक्त गिरा को
कितनी बार श्रवण करके भी मैने नहीं सुना है!

पर, अब और नही, अवहेला अधिक नहीं इस स्वर की,
ठहरो आवाहन अनन्त के! मूक निनद प्राणों के!
पख खोल कर अभी तुम्हारे साथ हुआ जाता हूँ।

दिन-भर लुटा प्रकाश, विभावसु भी प्रदोप आने पर
सारी रश्मि समेट शैल के पार उतर जाते है
बैठ किसी एकान्त प्रान्त, निर्जन कन्दरा, दरी मे
अपना अन्तर्गगन रात मे उद्भासित करने को।
तो मै ही क्यों रहूँ सदा तपता मध्याह्न-गगन मे?
नये सूर्य को क्षितिज छोड ऊपर नभ मे आने दो।
पहुँच गया मेरा मुहूर्त्त किरणे समेट अम्बर से
चक्रवाल के पार विजन मे कही उतर जाने का।

यह लो, अपने घूर्णिमान् सिर पर से इसे हटा कर
ऐल वश का मुकुट आयु के मस्तक पर धरता हूँ।
लो, पूरा हो गया राज्य-अभिषेक! कृपा पूषण की।
ऐल-वश-अवतंस नये सम्राट आयु की जय हो।
महाराज! मै भार-मुक्त अब कानन को जाता हूँ।

भाग्यदोष! सध सका नही मुझ से कर्तव्य पिता का,
अब तो केवल प्रजा-धर्म है, सो, उसको पालूँगा,
जहाँ रहूँगा, वही महाभृत् का अभ्युदय मना कर।
यती निःस्व क्या दे सकता है सिवा एक आशिष के?

सभासदो! कालज्ञ आप, सब के सब, कर्म-निपुण है,
क्या करना पटु को निदेश समयोचित कर्तव्यों का?
प्रजा-जनों से मात्र हमारा आशीर्वाद कहेगे।

जय हो, चंद्र-वंश अब तक जितना सुरम्य, सुखकर था,
उसी भाँति वह सुखद रहे आगे भी प्रजा-जनो को।

[एक ओर से पुरुरवा का निष्क्रमण दूसरी ओर से महारानी औशीनरी का प्रवेश]

औशीनरी

चले गये ?

सभी सभासद

जय हो अनुकपामयी राजमाता की।

औशीनरी

हाँ, मै अभी राजमहिषी थी, चाहे जहाँ कही भी
इस प्रकाश से दूर भाग्य ने मुझे फेक रक्खा था।
किन्तु, नियति की बात! सत्य ही, अभी राजमाता हूँ।
आ बेटा! लूँ जुडा प्राण छाती से तुझे लगा कर।

[आयु को हृदय से लगाती है।]

कितना भव्य स्वरूप! नयन, नासिका, ललाट, चिवुक मे
महाराज की आकृतियो का पूरा बिम्ब पडा है।
हाय, पालती कितने सुख, कितनी उमग, आशा से,
मिला मुझे होता यदि मेरा तनय कही बचपन मे।

पर, तब भी क्या बात? मनस्वी जिन महान् पुरुषों को
नयी कीर्त्ति की ध्वजा गाडनी है उत्तुग शिखर पर,
बहुधा, उन्हे भाग्य गढता है तपा-तपा पावक मे,
पाषाणो पर सुला, सिह-जननी का क्षीर पिला कर।

सो, तू पला गोद मे जिनकी, सीमन्तिनी-शिखा वे,
और नहीं कोई, जाया है तपोनिधान च्यवन की,
तप सिह की प्रिया, सत्य ही, केहरिणी मुनियो मे।
पुत्र! अकारण नहीं भाग्य ने तुझे वहाँ भेजा था।

हाय, हमारा लाल चकित कितना निस्तब्ध खड़ा है!
और कौन है, जो विस्मित, निस्तब्ध न रह जायेगा
इस अकाण्ड राज्याभिषेक, उस वट के विस्थापन से
जिसकी छाया हेतु दूर से वह चल कर आया हो?

कितना विषम शोक! पहले तो जनमा वन-कानन में,
जब महार्घ थी, मिली नहीं तब शीतल गोद पिता की।
और स्वयं आया समीप, तब सहसा चले गये वे
राजपाट, सर्वस्व सौंप, केवल वात्सल्य चुरा कर।

नीरवता रवपूर्ण, मौन तेरा, सब भाँति, मुखर है,
बेटा! तेरी मनोव्यथा यह किस पर प्रकट नहीं है?
पर, अब कौन विकल्प? सामने शेष एक ही पथ है
मस्तकस्थ इस राजमुकुट का भार वहन करने का।

उदित हुआ सौभाग्य आयु! तेरा अपार संकट में।
किन्तु, छोड़ कर तुझे, विपद से हमें कौन तारेगा?
मलिन रहा यदि तू, किसके मुख पर मुसकान खिलेगी?
तू उबरा यदि नहीं, महा प्लावन से कौन बचेगा?

पिता गये वन, किन्तु, अरे, माता तो यहीं खड़ी है।
बेटा! अब भी तो अनाथ नरनाथ नहीं ऐलों का।
तुझे प्यास वात्सल्य-सुधा की, मैं भी उसी अमृत से
बिना लुटाये कोष हाय! आजीवन भरी रही हूँ।

फला न कोई शस्य, प्रकृति से जो भी अमृत मिला था,
लहर मारता रहा टहनियों में, सूनी डालों में।
किन्तु, प्राप्त कर तुझे आज, बस, यही भान होता है,
शस्य-भार से मेरी सब डालियाँ झुकी जाती हों।
हाय, पुत्र! मैं भी जीवन भर बहुत-बहुत प्यासी थी,
शीतल जल का पात्र अधर से पहले-पहल लगा है।

तप्त बना मत इसे वीरमणि! द्विधा, ग्लानि, चिता से।
नही देखता, मै विपन्नता मे किस भाँति खडी हूँ,
गँवा शतक्रतु-सम प्रतापशाली, महान् भर्त्ता को,
अन्तर से उच्छलित वेदना का विस्फोट दबा कर?

और हाय, तब भी, मै केवल त्रिया, भीरु नारी हूँ;
रुदन छोड़ विधि ने सिरजा क्या और भाग्य नारी का?
पर, किशोर होने पर भी बेटा! तू वीर नृपति है।
नृपति नही टूटते कभी भी निजी विपत्ति-व्यथा से;
अपनी पीडा भूल यत्रणा औरो की हरते है।

हँसते है, जब किरण हास्य की हो सब के अधरों पर,
रोते है, जब प्रजा-जनो के नयन सिक्त होते है।
अपनी पीडा कहाँ, उसे अपना आनन्द कहाँ है,
जिस पर चढा किरीट, भार दुर्वह समाज-शासन का?

किन्तु, हाय, हो गया यहाँ यह सब क्या एक निमिष मे?

महामात्य

घटित हुआ सब, इस प्रकार, मानो, अदृश्य के कर मे
नाच रही हो पराधीन यह सभा दारु-पुतली-सी।
सब की बुद्धि समेट, सभी को अपना पाठ सिखा कर
यह नाटक दुःखान्त भाग्य ने स्वय यहाँ खेला है।

कौन जानता था, अनभ्र ही अशनि आज टूटेगी?
मिला कहाँ आभास देवि! हमको आसन्न विपद का?
कुछ तो भाग्य-अधीन और कुछ महाराज के भय से
हम स्तम्भित रह गये; गिरा खोले-खोले, तब तक तो
राज-मुकुट नृप से कुमार के सिर पर पहुँच चुका था।

सब कुछ हुआ, मरुत जैसे अम्बर मे दौड रहे हों,
जैसे कोई आग शुष्क कानन को जला रही हो,
सब कुछ हुआ, देवि! जैसे हम मनुज नही, पत्थर हो,
जैसे स्वय अभाग्य हमे आगे को हाँक रहा हो।

चले गये सम्राट छोड हमको अपार विस्मय मे,
कह पाये हम कहाँ देवि! जो कुछ हमको कहना था?

औशीनरी

कौन सका कह व्यथा? नही देखा, समग्र जीवन मे
जो कुछ हुआ, देख उसको मै कितनी मौन रही हूँ
कोलाहल के बीच मूकता की अकप रेखा-सी?

वाणी का वर्चस्व रजत है, किन्तु, मौन कचन है।
पर, क्या मिला, अन्त मे जाकर, मुझ को इस कचन से?
उतरा सब इतिहास, जहाँ निर्घोप, निनद, कलकल था,
चले गये उस मूक नीड की छाया सभी बचा कर
घटनाओं से दूर जहाँ मै अचल, शान्त बैठी थी।

महाराज कितने उदार, कितने मृदु, भाव-प्रवण थे!
मुझ अभागिनी को उनने कितना सम्मान दिया था!
पर, चलने के समय कृपा अपनी क्यो भूल गये वे?
रहा नही क्यों ध्यान, दानवाकृति इस बडे भवन मे
कही उपेक्षित, शान्त एक वह भी धूमिल कोना है,
कभी भूल कर भी जाती घटनाएँ नही जहाँ पर,
न तो जहाँ इतिहासों की पदचाप सुनी जाती है,
जहाँ प्रणय नीरव, अकप, कामना, स्निग्ध, शीतल है,
अभिलाषाएँ नही व्यग्र अपनी ही ज्वालाओं से,

जहाँ नही चरणो के नीचे अरुण सेज मूँगों की,
न तो तरगो मे ऊपर नागिनियाँ लहराती है,
जहाँ नही वसती कृशानु सुषमा कपोल, अधरो की,
न तो छिटकती है रह-रह कर चिनगारियाँ त्वचा से,
स्थापित जहाँ शुभेच्छु, समर्पित हृदय विनम्र त्रिया का,
उद्वेगो से अधिक स्वाद है जहाँ शान्ति, सयम मे,
एक पात्र मे जहाँ क्षीर, मधुरस, दोनो सचित है,
छिपे हुए है जहाँ सूर्य-शशधर एक ही हृदय मे;
जहाँ भामिनी नही मात्र प्रेयसी विमुग्ध पुरुष की,
अमृत-दायिनी, वल-विधायिनी माता भी होती है।

भूल गये क्यो दयित, हाय, उस नीरव, निभृत निलय मे
वैठी है कोई अखण्ड व्रतमयी समाराधन मे,
अश्रुमुखी माँगती एक ही भीख त्रिलोक-भरण से,
क्षण भर भी मत अकल्याण हो प्रभो! कभी स्वामी का।
जो भी हो आपदा, मुझे दो, मै प्रसन्न सह लूंगी,
देव! किन्तु, मत चुभे तुच्छतम कँटक भी प्रियतम को।

किन्तु, हाय, हो गयी मृषा साधना सकल जीवन की,
मै वैठी ही रही ध्यान मे जोडे हुए करो को,
चले गये देवता विना ही कहे वात इतनी भी,
हतभागी! उठ, जाग, देख, मै मन्दिर मे जाता हूँ।

याग-यज्ञ, व्रत-अनुष्ठान मे, किसी धर्म-साधन मे
मुझे वुलाये विना नही प्रियतम प्रवृत्त होते थे।
तो यह अन्तिम व्रत कठोर कैसे सन्यास सधेगा
किये शून्य वामाक, त्याग मुझ सन्यासिनी प्रिया को?

और त्यागना ही था तो जाते-जाते प्रियतम ने
ले लेने दी नही धूलि क्यो अन्तिम वार पदों की ?
मुझे वुलाये विना अचानक कैसे चले गये वे ?
अकस्मात् ही मै कैसे मर गयी कान्त के मन मे ?

शुभे ! गाँस यह सदा हृदय-तल मे सालती रहेगी,
मेरा ही सर्वस्व हाय, मुझ से यो विछुड गया है,
मानो, उस पर मुझ अभागिनी का अधिकार नही हो।

सुकन्या

देवि ! यही है नियम ; पाश जो क्षणिक, क्षाम, दुर्वल है,
वैराग्योन्मुख पुरुष नही उन वन्धों से डरता है।
जन्म-जन्म की जहाँ, किन्तु, शृंखला अभग पड़ी है,
यती निकल भागता उधर से आँख सदा चुरा कर।

परामर्श क्यों करे मुक्तिकामी अपने वधन से ?
गृहिणी की यदि सुने, गेह से कौन निकल सकता है ?
विस्मय की क्या वात ? यहाँ जो हुआ, वही होना था।
अचरज नही, आप से मिलकर नृप यदि नही गये है।

औशीनरी

पतिव्रते ! पर, हाय, चोट यह कितनी तिग्म, विपम है ?
कैसी अवमानना ! प्रतारण कितना तीव्र गरल-सा !
मै अवध्य, निर्दोष, विचारा यह क्यों नही दयित ने ?
छला किसी ने और वज्र आ गिरा किसी के सिर पर।

गँवा दिया सर्वस्व हाय, मै ने छिप कर छाया मे,
अस्वीकृत कर खुली धूप मे आँख खोल चलने से।
देवि ! प्रेम के जिस तट पर अप्सरा स्नान करती है,
गयी नही क्यों मै तरग-आकुल उस रसित पुलिन पर ?

पछताती हूँ हाय, रक्त आवरण फाड व्रीड़ा का
व्यजित होने दिया नही क्यो मै ने उस प्रमदा को
जो केवल अप्सरा नही, मुझ मे भी छिपी हुई थी?

बसी नही क्यों कुसुम-दाम बन उन विशाल बाँहों मे?
लगी फिरी क्यो नही पुष्प-स्रज बन उदग्र ग्रीवा से?
वेध रहे थे उठा शरासन जब वे वक्ष तिमिर का,
बनी न क्यो शिजिनी, हाय, तब मै उस महा धनुष की?

गयी नही क्यो सग-सग मै धरणी और गगन मे
जहाँ-जहाँ प्रिय को महान् घटनाएँ बुला रही थी?
अकित थे कर रहे प्राणपति जब आख्यान विजय का
पर्ण-पर्ण पर, लहर-लहर मे, उन्नत शिखर-शिखर पर,
समा गयी क्यो नही, हाय, तब मै जीवन्त प्रभा-सी
बाणो के फलको, कृशानु की लोहित रेखाओ मे?

जीत गयी वे जो लहरो पर मचल-मचल चलती थी,
उड सकती थी खुली धूप मे, मेघो-भरे गगन मे,
हारी मै इसलिए कि मेरे व्रीडा-विकल दृगो मे
खुली धूप की प्रभा, किरण कोलाहल की गडती थी।

देखा ही कुछ नही, कहाँ, क्या महिमा बरस रही है
अन्तर के छाया-निवास से बाहर कभी निकल कर।
हाय, भाग्य ने मुझे खीच इन त्रपा-त्रस्त छाया मे
फेक दिया क्यो नही धूप मे, उस उन्मुक्त भुवन मे,
जहाँ तरगाकुल समुद्र जीवन का लहराता है
और पुरुष हो रणारूढ, विशिखो के निक्षेपन मे—
दूर्व, पास मे खडी प्रिया का मुख निहार लेता है?

हाय सती ! मै ही कदर्य, दोषी, अनुदार, कृपण हूँ,
केवल शुभ कामना, मगलैपा से क्या होता है ?
मै ही दे पायी न भावमय वह आहार पुरुप को
जिसकी उन्हे अपार क्षुधा, उतनी आवश्यकता थी।

मुझे भ्रान्ति थी, जो कुछ था मेरा, सब चढा चुकी हूँ,
शेप नही अब कोई भी पूजा-प्रसून डाली मे,
किन्तु, हाय, प्रियतम को जिसकी सबसे अधिक तृपा थी,
अब लगता है, चूक गयी मै वही सुरभि देने से।

रही समेटे अलकार क्यों लज्जामयी वधू-सी ?
विखर पड़ी क्यो नही कुट्टमित, चकित, ललित, लीला मे ?
वरस गयी क्यों नही घेर सारा अस्तित्व दयित का
मै प्रसन्न, उद्दाम, तरगित, मदिर मेघ-माला-सी ?

हार गयी मै हाय ! अनुत्तम, अपर ऋद्धि जीवन की
प्राणो के प्रार्थना-भवन मे वैठी ध्यान लगा कर।

सुकन्या

देवि ! आपकी व्यथा, सत्य ही, अति दुरन्त, दुस्सह है,
आजीवन यह गाँस हृदय से, सचमुच, नही कढेगी।
पर, इस ग्लानि, प्रदाह, आत्म-पीड़न से अब क्या होगा ?
उन्मूलित वाटिका नही फिर से वसनेवाली है।
उसे देख कर जिये, नया पादप जो आन मिला है।

जितना भी सिर धुने शोक से प्रियतम की विच्युति पर,
किन्तु, सुचरिते ! यह अचित्य विस्मय की वात नही है।
पुरुष वही विक्रान्त, भीम, दुर्जय, कराल होता है,
जहाँ सामने तथ्य खडे हों, अरि हों, चट्टाने हों।

पर, जब कभी युद्ध ठन जाता इसी अजेय पुरुष का
अपने ही मन की तरग, अपनी ही किसी तृषा से,
उससे बढ कर और कौन कायर जग मे होता है?
कर लेता है आत्मघात, क्या कथा यतीत्व-ग्रहण की?

पर के फेंके हुए पाश से पुरुष नही डरता है,
वह, अवश्य ही, काट फेकता उसे बाहु के बल से।
पर, फँस जाता जभी वीर अपनी निर्मित उलझन मे,
निकल भागने की उसको तब राह नही मिलती है।

इसीलिए, दायित्व गहन, दुस्तर गृहस्थ नारी का।
क्षण-क्षण सजग, अनिद्र-दृष्टि देखना उसे होता है,
अभी कहाँ है व्यथा? समर से लौटे हुए पुरुष को
कहाँ लगी है प्यास, प्राण मे काँटे कहाँ चुभे है?

बुरा किया यदि शुभे! आपने देखा नही, नृपति के
कहाँ घाव थे, कहाँ जलन थी, कहाँ मर्म-पीडा थी?

यह भी नियम विचित्र प्रकृति का, जो समर्थ, उद्भट है,
दौड रहा ऊपर पयोधि के खुले हुए प्रागण मे,
और त्रिया जो अबल, मात्र आँसू, केवल करुणा है,
वही बैठ सपूर्ण सृष्टि के महा मूल निम्नल मे
छिगुनी पर धारे समुद्र को ऊँचा किये हुए है।

इसीलिए, इतिहास, तुच्छ अनुचर प्रकाश, हलचल का,
किसी त्रिया की कथा नहीं तब तक अंकित करता है,
[illegible] छोड़ जब तक [illegible] वह [illegible] प्रभा मे
बैठ नहीं जाती [illegible] के [illegible] के [illegible] पर।
[illegible] मोहिनी फेंक [illegible] को
किसी पुरुष को [illegible] से विक्षोभ नहीं भरती है।

छिगुनी पर धारे समुद्र को ऊंचा किये हुए है।
[पृष्ठ १६१]

देवि ! ग्लानि क्या, हम इतिहासो मे यदि प्रथित नही है ?
अपनी सहज भूमि नारी की धूप नही, छाया है।

इतिहासो की सकल दृष्टि केन्द्रित, बस, एक क्रिया पर।
किन्तु, नारियाँ क्रिया नही, प्रेरणा, प्रीति, करुणा है,
उद्‌गम-स्थली अदृश्य, जहाँ से सभी कर्म उठते है।

लिखता है इतिहास कथा उस जनाकीर्ण जीवन की,
जहाँ सूर्य का प्रखर ताप है, भीषण कोलाहल है।
पर, फैला है जहाँ चान्द्र साम्राज्य मूक नारी का,
वह प्रदेश एकान्त, बोलता केवल सकेतों मे।

अन्वेषी इतिहास शूरता का, सघर्ष-सुयश का,
किन्तु, हाय, शूरता नारियो की नीरव होती है,
वह सशब्द आघात नही, ममता है, कष्ट-सहन है।

सदा दौडता ही रहता इतिहास व्यग्र इस भय से,
छूट न जाये कही सग भागते हुए अवसर का,
किन्तु, अचचल त्रिया वैठ अपने गभीर प्राणो मे
अनुद्विग्न, अनधीर काल का पथ देखा करती है।

पर, तव भी हम छिन्न नही इतिहासों की धारा मे।
कौन नही जानता, पुरुष जव थकता कभी समर मे,
किस मुख का कर ध्यान, याद कर किसके स्निग्ध दृगो को
क्लान्ति छोड वह पुन. नये पुलको से भर जाता है ?

और कौन प्रति प्रात हाँक नर को वाहर करती है
नयी ऊर्मि, नूतन उमग-आशा मे उसे मग्ना कर
लडने को जा वहाँ, जहाँ जीवन-रण छिडा हुआ है,
करने को निज अग-दान इतिहासों के प्रणयन मे

और साँझ के समय पुरुष जब आता लौट समर से,
दिन भर का इतिहास कौन उसके मुख से सुनती है
कभी मन्द स्मिति-सहित, कभी आँखों से अश्रु बहा कर?

नारी क्रिया नहीं, वह केवल क्षमा, क्षान्ति, करुणा है।
इसीलिए, इतिहास पहुँचता जभी निकट नारी के,
हो रहता वह अचल या कि फिर कविता बन जाता है।

हाय, स्वप्न! जाने, भविष्य भू का वह कब आयेगा,
जब धरती पर निनद नहीं, नीरवता राज करेगी,
दिन भर कर संघर्ष पुरुष जो भी इतिहास रचेगा,
बन जायेगा काव्य, साँझ होते ही, भवन-भवन में!

अभी चंड मध्याह्न, सूर्य की ज्वाला बहुत प्रखर है,
दिवस लग्न अनुकूल वह्नि के, पौरुष-पूर्ण गुणों के।
जब आयेगी रात, स्यात्, तब शान्त, अशब्द क्षणों में
मही सिक्त होगी नरेश्वरी की शीतल महिमा से।

और देवि! जिन दिव्य गुणों को मानवता कहते हैं,
उसके भी अत्यधिक निकट नर नहीं, मात्र नारी है।
जितना अधिक प्रभुत्व-तृषा से पीड़ित पुरुष-हृदय है,
उतने पीड़ित कभी नहीं रहते हैं प्राण त्रिया के।

कहते हैं, जिसने सिरजा था हमें, प्रकाण्ड पुरुष था,
इसीलिए, उसने प्रवृत्ति नर में दी स्वत्व-हरण की।
और नारियों को विरचा उसने कुछ इस कौशल से,
हम हो जाती हैं कृतार्थ अपने अधिकार गँवा कर।

किन्तु, कभी यदि हमे मिला निर्बाध सुयोग सृजन का,
हम हो कर निष्पक्ष सुकोमल ऐसा पुरुप रचेगी,
कोलाहल, कर्कश निनाद मे भी जो श्रवण करेगा
कातर, मौन पुकार दूर पर खडी हुई करुणा की,
और बिना ही कहे समझ लेगा, आँखो-आँखो मे,
मूक व्यथा की कसक, आँसुओ की निस्तब्ध गिरा को।

औशीनरी

कितना मधुर स्वप्न। कैसी कल्पना चान्द्र महिमा की।
नारी का स्वर्णिम भविष्य, जाने, वह अभी कहाँ है।
हम तो चली भोग उसको जो सुख-दुख हमे बदा था,
मिले अधिक उज्ज्वल, उदार युग आगे की ललना को।

आयु

माँ। हताश मत हो, भविष्य वह चाहे कही छिपा हो,
मै आया हूँ अग्रदूत बन उसी स्वर्ण-जीवन का।
मै करुणामयी त्रिया के
पिया दूध ही नही, जननि। मै करुणामयी त्रिया के
क्षीरोज्ज्वल कल्पना-लोक मे पल कर बडा हुआ हूँ।

जो कुछ मिला, मातृ-ममता से, माँ के सजल हृदय मे,
पिता नही, मै ने जीवन मे माताएँ देखी है।
दिया एक ने जन्म, दूसरी माँ ने लगा हृदय मे
पाल-पोस कर बडा किया आँखो का अमृत पिला कर,

अब मै हो कर युवा खोजते हुए यहाँ आया हूँ
राज-मुकुट को नही, तीसरी माँ के ही चरणो को।

माँ। मै पीछे नृप किशोर, पहले तेरा बेटा हूँ।

[आयु औशीनरी के चरणो पर गिरता है। औशीनरी
उसे उठा कर हृदय से लगाती और अपने आँसू पोछती है।]

सुकन्या

वरस गया पीयूष, देवि! यह भी है धर्म त्रिया का,
अटक गयी हो तरी मनुज की किसी घाट-अवघट मे,
तो छिगुनी की शक्ति लगा नारी फिर उसे चला दे,
और लुप्त हो जाय पुन आतप, प्रकाश, हलचल से।

सो वह चलने लगी, आइये, वापस लौट चले हम,
मै अपने घर, देवि! आप अपने प्रार्थना - भवन मे।
त्यागमयी हम कभी नही रुकती है अधिक समय तक
इतिहासों की आग बुझा कर भी उनके पृष्ठो मे।

परिशिष्ट

तृतीय अङ्क

मणिकुट्टिम=अँगरेजी शब्द, 'मोजेक' के अर्थ में प्रयुक्त।

ऋक्षकल्प=नक्षत्र-कल्प। चन्द्रलिंग=जिसका लक्षण या सूचक चन्द्रमा हो।

बृंहित=बढ़ा हुआ, उस अर्थ में जिसमें आकाश (स्पेस) सतत वर्धनशील है।

चतुर्थ अङ्क

"और अप्सरा संततियों का पालन कब करती हैं"?

पुराणों में निम्न-लिखित कथाएँ देखिये —शुकदेवजी का जन्म घृताची से, मत्स्य-गन्धा का जन्म उपरिचर और अद्रिका से, प्रमद्वरा का जन्म विश्वावसु मुनि और मेनका से। राजा आग्नीध्र और पूर्वचित्ति, मुनीश्वर कण्डु और प्रम्लोचा तथा मेनका और विश्वामित्र की कथाएँ भी। गंगा ने भी अपने आठ पुत्रों में से किसी का पालन नहीं किया। हाँ, मेनका एक ऐसी अप्सरा अवश्य है, जिसके भीतर मातृत्व कुछ अधिक सजीव था। दुष्यन्त के यहाँ से शकुन्तला जब निकाल दी गयी, तब सहसा मेनका आकर उसे उठा ले गयी, ऐसा साक्ष्य कालिदास की कल्पना देती है।

पंचम अङ्क

अर्यमा=सूर्य। अभिषुत सोम=पीसा हुआ सोम।

आहवनीय=हवन के उपयुक्त।

अश्विद्वय=दोनों अश्विनीकुमार। निषण्ण=उपविष्ट।

वधूसरा—च्यवन की माता का नाम पुलोमा था। दैत्य द्वारा पीड़ित होने पर वधूसरा उसी के आँसुओं से निकली थी। च्यवन की पहली पत्नी का नाम आरुषी था। जब प्रसव-काल में उसका देहान्त हो गया, च्यवन तपस्या में चले गये और तपस्या के आसन से उठ कर दुबारे उन्होंने प्रेम किया।

रत्नसानु=स्वर्ग का एक पर्वत जो सोने का है।

शतक्रतु=इन्द्र का नाम, इस कारण कि उन्होंने सौ यज्ञ किये थे। कहते हैं, पुरूरवा भी शतक्रतु थे।

लक्ष्म=चिह्न या दाग। त्रपा=लज्जा।

ऋत=वह शृंखला अथवा नियम जो समग्र सृष्टि के भीतर व्याप्त है और जिसके अधीन, समान कारण से समान फल की उत्पत्ति होती है।

उदग्र=उत्कंठित। विभावसु=सूर्य।

पूषण, वरुण, मरुद्गण=वैदिक देवता।